शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ४

अहो! तेरी प्रभुता का पंथ, और स्वभाव के बल से शांति

प्रभु! अपनी स्वतंत्र प्रभुता तूने कभी सुनी नहीं। वर्तमान प्रत्येक अवस्था के पीछे अपार शक्तियप पूर्ण पवित्र शक्ति अखंड स्वभावरूप से भरी है, उस सत् की बात अपूर्व भाव से अंतर से उल्लसित होकर तूने श्रवण नहीं की; तेरा महात्म्य तुझे नहीं आया। जिन्होंने पूर्ण अविकारी स्वभाव की श्रद्धा की, वे प्रभुता के पथ पर प्रयाण करके अपने अनंत स्वाधीन सुख में लीन हो गये; जो ऐसी श्रद्धा करेंगे, वे भी अक्षय अखंड शांति में मग्न होकर अनंत सुख का अनुभव करेंगे। यथार्थ स्वभाव का भान होने पर वर्तमान में आंशिक परम अद्‌भुत शांति का वेदन होता है।

बेहद पवित्र ज्ञानानंदस्वभाव का अंतरंग से स्वीकार करनेवाले की शक्ति का माप वर्तमान में मर्यादित है। विकार को जाननेवाला विकाररूप नहीं होता, विकार तो क्षणिक अवस्था जितना है। उसका नाशक स्वभाव वर्तमान में पूर्ण पवित्र है; उसकी प्रतीति के बल में विकार का बल नहीं दिखता। जैसा स्वभाव, वैसी मान्यता और जैसी मान्यता, वैसा स्वभाव—ऐसे पवित्र अविकारी असंग एकरूप स्वभाव की श्रद्धा के जोर में नवतत्त्वों के राग का विकल्प छूट जाता है। दो तत्त्व भिन्न थे, वे भिन्न रह जाते हैं। *(समयसार-प्रवचन भाग-१ से)*

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२१८]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी)

(तीसरी आवृत्ति)

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांतपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं, और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र संख्या ९०० करीब, मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रंथ मंगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मँगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता—**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अगस्त : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, श्रावण, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ४

जैनमतानुयायी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

ज्ञानी को ही सच्ची भक्ति होती है

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथगुरु और शास्त्र की भक्ति को धर्मी जीव बाह्य निमित्तरूप मानता है, मेरा स्वरूप सर्व रागादि से रहित पूर्ण ज्ञायक है, शुद्धनय द्वारा ऐसे भूतार्थस्वरूप में केलि करना मोक्षमार्ग है। अज्ञानी बाह्य क्रियाकांड को तथा पुण्य से-शुभराग से धर्म (मोक्षमार्ग) मानता है। जैनों के संप्रदाय में जन्म होने से जैन हो गये, ऐसा नहीं है, किंतु विपरीत अभिप्रायरहित सम्यग्दर्शन -ज्ञानादि द्वारा ही जैन हो सकते हैं।

मोह, राग, द्वेष को जीतनेवाला जैन है, वह निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और ज्ञातास्वरूप में जागृति द्वारा जैनत्व प्राप्त करता है। धर्मी जीव को भूमिकानुसार शुभराग भी आते हैं, किंतु वह भक्ति के राग को उपादेय नहीं मानता, उसे हेय समझता है। कोई भी राग हो, वह बंध के कारणरूप आस्रवतत्त्व होने से किंचित् हितकर नहीं है, फिर भी आता है। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान की भक्ति भी हेय है, ऐसा भान होने पर भी अशुभराग से बचने के लिये व्यवहार से उपादेय है, ऐसा शुभराग आता है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तपादिक करो, ऐसा कथन है, वह उपदेश वचन है। अभिप्राय में किसी भी राग को करने योग्य नहीं मानता, चारित्र में भी राग करते-करते शुद्धता हो जावेगी, ऐसा नहीं मानता। शुभराग भी उसके अपने काल में आवेगा ही; राग की भावना तो आत्मतिरस्कारी आस्रवों की भावना है, उसे ज्ञानी करना नहीं चाहता।

ज्ञानी को ही निश्चय-व्यवहार दोनों का सम्यग्ज्ञान है, अज्ञानी को मिथ्याज्ञान है, इसलिये व्यवहारनय भी नहीं है।

धर्मी को यथार्थ दृष्टि और स्वानुभव द्वारा आत्मा का भान निरंतर होता ही है, किंतु वैसा उपयोग और स्मरण निरंतर नहीं होता। चतुर्थ गुणस्थान में सिद्ध भगवान भी आत्मा है, मैं भी आत्मा हूँ, वर्तमान क्षणिक अशुद्धता को गौण करके सिद्धपरमात्म समान निज स्वरूप के आलंबन द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक अनुभव करता है किंतु विशेष शुद्धता नहीं है, वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है। छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि की बात तो परम अद्भुत अलौकिक है, सहज ज्ञानस्वभाव के ध्यान द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द रस में मौज करते हैं, बाह्य में नग्न दिगम्बर सौम्य मुद्राधारी होते हैं। सम्यग्दृष्टि प्रारम्भ से ही रागादिक को उपादेय नहीं मानता, भक्ति के शुभभाव को भी छोड़कर शुद्ध में ठहरने का प्रयत्न करता है; शुद्ध में न रहा जाये, तब शुभभाव का आलंबन करता है, शुभाशुभराग को हेय मानते हैं, किंतु वह आये बिना नहीं रहता।

भगवान की भक्ति से मोक्ष होगा, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि अनेक मूलस्वभाव को भूल रहा है और भगवान की भक्ति में ही लीन होता है, किंतु अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव को ध्येय नहीं बनाता। इसलिये उसे मोक्ष तो क्या, धर्म का अर्थात् जैनत्व का प्रारम्भ भी नहीं होता। अज्ञानी को भक्ति में अति अनुराग है।

लीन भयो व्यवहार में उक्ति (उपाय) न उपजै कोय,
दीन भयो प्रभुपद जपै मुक्ति कहाँ से होय,

वह कहता है कि—हे भगवान! मैं बहुत दुःखी हुआ, अब तो तारो...।

उसका अर्थ यह हुआ कि—आज तक भगवान ने ही मुझे दुःखी रहने दिया और भगवान को मेरा उद्धार करना नहीं आता; तो वह बात मिथ्या है। कल्याण की माँग किसी प्रभु से करता है तो क्या तेरा सुख या सुख का उपाय भगवान के पास जमा रखा है ?

वास्तव में जीव अपनी भूल से दुःखी होता है, भूल करनेवाला भी स्वयं है तो भूल और रागादि दोष क्षणिक जानकर त्रैकालिक निर्दोष स्वरूप के आश्रय द्वारा वह भूल स्वयं मिटा सकता है। कोई जड़ कर्म, भाग्य या ईश्वर भूल करावे तो सुखी होने का सर्व श्रम व्यर्थ ही है; अतः जीव अपने कारण चौरासी के अवतार में भटकते हैं और अपने को जागृत करने से स्वयं दुःख के नाशपूर्वक सच्चे सुखरूप होते हैं।

प्रश्न:— भक्ति के द्वारा मुक्ति मानने से तो अन्यमती के समान मिथ्या मान्यता हुई, तो भक्ति, महाव्रतादि शुभराग से परम्परा मोक्ष होने का कथन शास्त्र में आता है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर:—जिसे निर्मल भेदविज्ञान, आत्मानुभव तो हुआ है, राग को किंचित् भी हितकर नहीं मानते, ऐसे जीव को भूमिकानुसार ऐसी भक्ति, व्रतादि के शुभराग आते हैं, भूमिका से विरुद्ध निमितत नहीं होगा, उसप्रकार का शुभराग व्यवहार में निमित्त होगा और उसके अभावपूर्वक मोक्षदशा होगी, ऐसा ज्ञान कराने के लिये धर्मी के शुभ व्यवहार को परम्परा कारण कहा है।

भक्ति, दया-दानादिक का शुभराग तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को आता है, उसका निषेध नहीं है; किंतु उसमें मिथ्या अभिप्राय करने का निषेध है। अज्ञानी जीव भक्ति से सम्यग्दर्शन मानता है, वह भूल है। वह भक्ति तो शुभास्रव है-बंधमार्ग है और सम्यग्दर्शनादि मुक्ति का मार्ग है, बंधमार्ग को मुक्ति का मार्ग मानना मिथ्यात्व है। यहाँ शुभभाव करने, न करने की बात नहीं है, किंतु सर्वप्रथम हित-अहित का स्वरूप क्या है, उसका पक्का निर्णय करना चाहिये। धर्मी जीव पुण्य को दंड समान मानता है, इसलिये करनेयोग्य नहीं मानता। अज्ञानी उसे हितकर मानता है, करनेयोग्य मानता है। दान देने मात्र से पुण्य नहीं होता किंतु मानादि कषाय कम करे, तृष्णा कम करे, शुभभाव करे तो पुण्य बँधता है, किंतु वह स्वयं मोक्ष का कारण नहीं है। धर्मी जीव सुपात्र दान की भावना भाते हैं, मुनि को आहारदान देते समय शुभभाव करे तो पुण्य बँधता है। दिगम्बर जैन मुनि को निर्दोष आहार दे, उसके लिये मोल देकर न लावे, उद्देशिक आदि दोष रहित, नवधाभक्तिसहित आहार-जल देता है तो पुण्य बँधता है, किंतु धर्मी की दृष्टि राग और पुण्य-बंध के ऊपर नहीं है, उसे तो सच्चे गुरु के प्रति परम विनय और आहारदान देने का भक्तिभाव आता है।

पुण्य और धर्म दोनों भिन्न हैं; सात तत्त्वों का मार्ग भिन्न-भिन्न है। भगवान की भक्ति आस्रवतत्त्व है; शुभाशुभ आस्रवरहित जितने अंश में संवर-निर्जरा है, उतना धर्म है, जो चिदानंद स्वरूप के आश्रय से ही आत्मा में प्रगट होता है। शुभ-अशुभभाव दोनों आस्रव हैं, संवर से विरुद्ध हैं; इसलिये आस्रव से संवर-निर्जरारूप सच्चा धर्म कभी नहीं होता—ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिये। अज्ञानी जीव आतमहित हेतु ज्ञान वैराग्य को कष्टदाता मानता है, बाह्य में भक्ति आदि शुभराग की क्रिया में (आस्रव में) मौज मानते हैं। रागादि की उत्पत्ति में आस्रवतत्त्व है; रागादि में आत्मा और संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग मानता है, उसे सात तत्त्व में से एक भी तत्त्व का ज्ञान नहीं है। आत्मा तो अनंत गुणों का पिंड, संग-विकार रहित ज्ञान-आनन्द का पिंड है, उसे भूलने से ही

उसकी व्यक्तदशा में राग-द्वेष के भाव होते हैं, वह मैल है, अशुचि है। अशुभभाव तो मैल है किंतु शुभराग भी मैल है, निश्चय से दोनों समान ही हैं, ऐसा निर्णय करके, व्यवहार में पुण्य-पाप में भेद है, ऐसा जानना। पुण्य छोड़कर पाप में जाने का उपदेश नहीं है, किंतु शुभरागरूप व्यवहार आस्रव ही है, रागरहित स्वसन्मुख परिणाम करना, वह धर्म है। ऐसा निर्णय करने के लिये कथन है।

धर्मी जीव भक्ति के राग को उपादेय नहीं मानता, किंतु उपादेयरूप शुद्धोपयोग का उद्यमी रहता है। जैसे पर में एकत्वबुद्धि द्वारा पर की करुणारूप मोहभाव अज्ञानी को ही होते हैं, जो मिथ्या श्रद्धा है। ज्ञानी को भी करुणारूप भाव आते हैं, किंतु पर में एकत्वबुद्धि नहीं है, पर से सुख-दुःख होता है, ऐसी श्रद्धा नहीं होती। इसप्रकार अज्ञानी को और (साधकदशा में) ज्ञानी को भक्ति का शुभराग आता है, किंतु दोनों के अभिप्राय में महान अंतर है।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने पंचास्तिकाय गाथा १३६ की श्री अमृतचंद्राचार्य कृत टीका का आधार दिया है—

अयंहि स्थूल लक्ष्यतया केवल भक्तिप्राधान्यस्याज्ञानिनो भवति। उपरितन भूमिकायाम लब्धास्पदस्या स्थान राग निषेधार्थ ज्ञानिनोऽपि भवतीति। अर्थः—यह भक्ति, केवल भक्ति ही है, प्रधान जिनके, ऐसे अज्ञानी जीवों को ही होती है, तथा तीव्रराग ज्वर मिटाने के लिये अथवा अस्थान के राग का निषेध करने के लिये कदाचित् ज्ञानी को भी होती है। भक्ति से कल्याण होगा, ऐसी मान्यतासहित भक्ति अज्ञानी को ही होती है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो ज्ञानी से अज्ञानी को भक्ति की विशेषता होती होगी ?

उत्तरः—जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, वह पुण्य-पाप को हेय समझता है, देहादिक की क्रिया को ज्ञेय समझता है, चिदानंदस्वभाव और निर्मलदशा को उपादेय समझता है—ऐसे धर्मी को ही सच्ची भक्ति (आंशिक वीतरागता आंशिक शुभरागरूप सरागता; निश्चय भक्ति अर्थात् अभेद भक्ति-व्यवहार भक्ति अर्थात् भेद भक्ति) होती है, मिथ्यादृष्टि को ऐसी एक भी भक्ति नहीं है, क्योंकि वह केवल रागरूप भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है; जो सच्चा कारण नहीं है, उसे कारण मानता है, इसलिये उसके श्रद्धान में अति अनुराग है। भक्ति का भाव आता है, उसे शुभराग जानना चाहिये; किंतु उस राग द्वारा वीतरागता मानने से तो मिथ्याश्रद्धा अर्थात् अवस्तु की श्रद्धा होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शनादि वीतरागी पर्याय है, जो निर्मल भेदज्ञान द्वारा निज आत्मद्रव्य के आलंबन से ही प्रगट होती है। उसने ऐसा नहीं माना किंतु भक्ति जो रागरूप पर्याय है, उसमें से

अरागी पर्याय आयेगी, ऐसा माना, ऐसा मानने से तो अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व होता है, इसलिये उसका निश्चय भी झूठा है, व्यवहार भी झूठा है।

अज्ञानी को भक्ति में अति अनुरागी क्यों कहा है ? क्योंकि वह मानता है कि ऐसी भक्ति करते-करते कभी कल्याण हो जायेंगे, किंतु राग करते-करते सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन आत्मा की निश्चय भक्ति है; उसके बिना व्यवहार भक्ति नहीं होती। प्रथम हित-अहित का निर्णय करना चाहिये। शुभराग-व्यवहार करते-करते सम्यग्दर्शनरूपी धर्म भी नहीं होता, धर्म तो शाश्वत चैतन्य वस्तु के अभेद आश्रय से ही होता है, ऐसी दृढ़ता करके सर्वप्रकार के राग को हेय समझकर अपनी शुद्ध सत्ता से पूर्णरूप आत्मा को उपादेय माने तो स्वसन्मुखता द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। स्वाश्रित दृष्टि और श्रुतज्ञान होने के बाद निश्चय और व्यवहार ऐसे दो नय होते हैं। निश्चय का भान नहीं है, उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा है। धर्मी जीव को धर्मानुराग होता है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय बहुमान का राग आता है किंतु श्रद्धा में सर्वराग को दंड समान मानता है। भगवान की भक्ति को बंध का कारण मानता है, इसलिये उसे अज्ञानी जैसा भक्ति में अनुराग (राग का राग) नहीं आता। अब बाह्य में कदाचित् ज्ञानी को बहुत अनुराग होता है; जिनमंदिर, जिनप्रतिमा आदि नवदेव वीतरागता की शिक्षा देते हैं, ऐसा उपकार मानते हैं। नंदीश्वर द्वीप में भी शाश्वत् प्रतिमाजी हैं, वहाँ इन्द्र बड़ी धामधूम से पूजा, भक्ति, नृत्य करते हैं; वे एकावतारी हैं, निश्चयभक्तिसहित भगवान की भक्ति करते हैं, सर्व विभाव की उपेक्षा और अखंड ज्ञातास्वभाव का उत्साह अंतर में वर्तते हैं, ज्ञानानंदस्वभाव की दृष्टि निरंतर होने पर भी पूर्ण वीतराग नहीं है, इसलिये राग आता है; इसलिये भक्ति भी करते हैं। बाह्य में बहुत भक्ति और उत्साह करते दिखाई देते हैं। श्री रामचंद्रजी ने भी महान उत्सवपूर्वक शांतिनाथ भगवान की मंदिर में जाकर भक्ति की थी। शरीरादि जड़ की क्रिया स्वतंत्र है, वह आत्मा की इच्छा के कारण नहीं होती; ज्ञानी शुभराग का भी व्यवहार से ज्ञाता है, स्वामी नहीं है। अज्ञानी को भी ऐसा राग आता है किंतु वह उस राग को हितकर मानता है, भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है।

अज्ञानी की गुरु-भक्ति

जो जीव आज्ञानुसारी हैं और बाह्य वेश और क्रिया को धर्मात्मा को चिह्न समझते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि यह हमारे जैन के साधु हैं, यह हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करना; भक्ति से कुछ भला होगा; ऐसा समझकर उनकी भक्ति करते हैं, किंतु गुरु की परीक्षा नहीं करते। कुल धर्म

के कारण देखा-देखी से गुरु की भक्ति करते हैं। अन्यमति भी अपने-अपने संप्रदाय के गुरुओं को गुरु मानते हैं, इसप्रकार वह भी कुलक्रम से गुरु को मानते हैं। इसलिये उसे सत्य-असत्य का विवेक नहीं है। यदि कोई परीक्षा करते हैं कि यह मुनि परजीवों की दया का पालन करते हैं, नग्न रहते हैं, दिन में एक बार आहार लेते हैं, अपने लिये बनाया हुआ भोजन नहीं लेते, व्रतादि पालते हैं, तो वह सच्ची परीक्षा नहीं है, अन्यमत में भी ऐसे साधु होते हैं और दया का पालन करते हैं; इसलिये दया लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव—इन तीन दोषरहित लक्षण द्वारा गुरु को पहिचानना चाहिये। जो दया नहीं पालते, उद्देशिक आहार लेते हैं, उनकी तो बात नहीं है, बाह्य में दया का पालन वह भी मुनि का सचचा लक्षण नहीं है। निश्चयरत्नत्रयसहित, तीन कषायरहित २८ मूलगुण का अखंडित पालन करनेवाले जैन मुनि होते हैं, वह सच्चा लक्षण है।

बाह्य ब्रह्मचर्य को मुनि का लक्षण मानने से अतिव्याप्ति दोष आता है, कारण कि अन्यमती भी बाह्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, इसलिये वह भी सच्चा लक्षण नहीं है। जिसे निर्विकल्प स्वानुभूतिसहित ज्ञातादृष्टा स्वरूप का भान तो है, उपरांत वीतरागता-शुद्धोपयोग में ७वाँ गुणस्थान बारंबार आता ही है और २८ मूलगुण का पालन करते हैं, वह जैन मुनि हैं। मुनि का भेष लेकर एषणासमिति में दोष लगावे तो २८ मूलगुण का पालन नहीं है।

मुनिव्रतधार अनंत बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

इसलिये बाह्य भेष और शुभभाव द्वारा गुरु की परीक्षा करे तो वह सच्ची परीक्षा नहीं है। व्यवहार समिति आस्रव है, उसमें संवर-निर्जरारूप आत्मधर्म नहीं है। समिति और गुप्ति में दो प्रकार है—निश्चय और व्यवहार; शुद्धस्वरूप में लीनता निश्चय समिति-गुप्ति है। आत्मा में एकाग्र, लीन न रह सके, तब शुभराग आता है और अशुभ से बचते हैं, वह व्यवहार गुप्ति और व्यवहार समिति है।

जैन संप्रदाय में जन्म लिया किंतु सत्य-असत्य की पहिचान न करे, मात्र अज्ञानुसारी हो तो इससे क्या? बाह्य और अभ्यंतर का सच्चा ज्ञान, सम्यग्दर्शन बिना नहीं होता और अंतर्मुख हुए बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। जो जैन शास्त्र में जैसा गुरु का स्वरूप कहा है, वैसा समझकर नहीं मानता किंतु यह हमारे गुरु हैं, हमारा समाज उसे गुरु मानता है, इसलिये उन्हीं की भक्ति करना चाहिये, तो ऐसा माननेवाले को जैन मुनि के स्वरूप का निर्णय नहीं है। व्यवहार श्रद्धा का ठिकाना

नहीं है। आत्मज्ञान होने के बाद विशेष भूमिका होने पर उसके योग्य व्यवहार आता है। कोई ऐसा माने कि व्यवहार आता ही नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान से निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं, मात्र श्रावक को व्यवहार और मुनियों को निश्चय हो, ऐसा नहीं है। मिथ्या अभिप्रायरहित होने के लिये प्रथम तत्त्वज्ञान का श्रवण, ग्रहण, धारणा और अभ्यास होना चाहिये। बाद स्वसन्मुखता द्वारा देह और राग से भिन्न पूर्ण ज्ञानघन आत्मा में निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति का होना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। आत्मानुभव की विशेष जागृति के द्वारा आत्मा में जितना अंश में लीनता, वह निश्चय भक्ति और निश्चय समिति है और जो शुभराग रहा, वह व्यवहार है। दोनों का ज्ञान होना चाहिये। साधकदशा में आंशिक वीतरागता और सरागता के भेद को जानना, वह व्यवहारनय का प्रयोजन है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, वह मुनित्व है। केवल बाह्य से परीक्षा करना यथार्थ नहीं है। निश्चय-व्यवहार के भान बिना सम्यग्ज्ञान नहीं है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना जरा भी चारित्र और आत्मध्यान नहीं होता। निश्चय सम्यग्दर्शन सातवाँ गुणस्थान में होता है, ऐसा मानना भूल है। निश्चय सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से होता है, बाद द्रव्यस्वभाव का उग्र आलंबनरूप ध्यान से आत्मा में मुनिदशा की प्राप्ति होती है। मुनि को निर्दोष आहार लेने का विकल्प आता है, वह आत्मा का चारित्र नहीं है किंतु शुभराग है, चारित्र का दोष है। शुद्ध आहार नहीं होने पर भी आहार-जल शुद्ध है, ऐसा कहना झूठ है।

उद्देशिक अध:कर्म आदि दोषवाला आहार लेता रहे और उसे जरा अतिचार मानकर अपने को मुनि माने तो वह मुनि नहीं है।

व्रत के दो भेद हैं—निश्चयव्रत और व्यवहारव्रत। निश्चयरत्नत्रयसहित मुनिदशा में जितना अंश स्वाश्रय-वीतरागभाव है, उतना निश्चयव्रत है, वह निश्चय अहिंसा है और जितना अंश में परद्रव्य का आलंबनरूप महाव्रतादि शुभराग है, वह व्यवहारव्रत है और वह आस्रवतत्त्व है, उतने अंश में चैतन्य की जागृति का घात होता ही है, इसलिये वह निश्चय की अपेक्षा हिंसा है और व्यवहार से वह महाव्रतादि व्यवहार व्रत है, वह व्यवहार में अहिंसा है। आत्मज्ञान और निर्विकल्प अनुभवरहित महाव्रतादि का पालन व्यवहार नहीं है, व्यवहाराभास है, हिंसा ही है।

मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग यह पाँचों भाव-आस्रव, आत्मा के चैतन्य सुखादि के घातक ही हैं, उसमें सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व का ग्रहण किये बिना

मिथ्यात्व का पाप कभी नहीं छूटता और उसे बड़ा पुण्य भी नहीं होता।

बाह्य व्यवहारमात्र द्वारा परीक्षा करे कि हमारे मुनि घड़ी, धनादि नहीं रखते, वस्त्र नहीं रखते, अपने लिये पुस्तक बाजार से नहीं मंगवाते, संस्थाओं की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करते, ऐसा शुभभाव भी आस्रव है। ऐसा शुभभावों द्वारा मुनि की परीक्षा करे तो वह सच्ची परीक्षा नहीं है। उपवास, उपदेश और वृत्तिपरिसंख्यान आदि बाह्य क्रियाओं द्वारा परीक्षा करे, वह भी यथार्थ नहीं है। जीव ने पूर्व अनंत बार ऐसे व्रत-उपवासादिक किये हैं, वह ज्ञानी को भी होते हैं किंतु वह औदयिकभाव बंध के कारण हैं और मोक्ष का कारण तो आत्माश्रित वीतरागभावरूप रत्नत्रय है; उसमें मुनित्व है, बाह्य में व्रतादि तो निमित्तमात्र है। अंतर का निर्विकल्प अनुभव, वह मुनित्व है; उसकी परीक्षा अज्ञानी करता नहीं।

मुनि होकर तीव्र क्रोधादि करे, वह तो व्यवहाराभास में भी नहीं है; कोई मुनि बाह्य क्षमाभाव रखे, मौन रहे या दूसरों को उपदेश देता है, वह भी मुनित्व का लक्षण नहीं है। क्योंकि ऐसी बात तो अन्यमत में परम हंसादि में भी है, इसलिये ऐसा लक्षण से गुरु मान लेने में अव्याप्ति दोष आता है। लक्षण के तीन दोष हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव। इन तीन दोषों से रहित परीक्षा सच्ची परीक्षा है। क्रोधादि दूर करना अत्याश्रित है। शुद्ध-अशुभ, शुद्धभाव जीव के परिणाम हैं। देह की क्रिया पुद्गल-जड़ के परिणाम हैं, दोनों का कारण-कार्य सदा स्वतंत्र है, भिन्न है। शरीर में क्षुधादि क्रिया पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, वह पुद्गल के आश्रित है और उसमें राग-द्वेष का भाव अथवा भेदज्ञान द्वारा सहन करने का भाव होता है, वह जीवाश्रित है। क्षुधा, ज्वर आदि उष्णता जीव को नहीं है। अज्ञानी देह में एकताबुद्धि द्वारा भ्रम से मानता है कि यह मुझे हो रहा है, मैं शरीर हूँ, मुझे क्षुधा लगी है, ऐसा विभावभाव जीव का परिणाम है। ज्ञानी को भूमिकानुसार विभावभाव होता है, वह भाव आस्रव जीव का परिणाम है। ज्ञानी समझते हैं कि वह विभाव दोष है, मेरी कमजोरी से होता है, परद्रव्य के कारण रागादि है, ऐसा नहीं मानता। पर जीव की दया का भाव आया, उसमें शरीर और वाणी की क्रिया हुई तो वह क्रिया पुद्गलद्रव्य के आश्रित है और अपने में अनुकम्पा का भाव हुआ, वह जीवाश्रित है। मिथ्यादृष्टि इसप्रकार स्पष्टरूप से भेद नहीं जानता। उपवास में राग की मंदता जीवाश्रित है, भोजनादिक का न आना पुद्गलद्रव्य के आश्रित है। क्रोध के परिणाम होना जीव के आश्रित है, शरीर का काँपना, आँखें लाल हो जाना पुद्गल के आश्रित है। उपदेश-वचन अजीव है, वह पुद्गल के आश्रित है; उपदेश देने का भाव जीव के आश्रित है; ऐसी सच्ची परीक्षा नहीं करता,

उसे भेदज्ञान नहीं है। इसलिये जीव-अजीव की असमानजाति मनुष्यपर्याय में (देहादि में) एकत्व की दृष्टि से स्व-पर को देखता है और निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुनित्व न मानकर असमानजाति मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि द्वारा वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

मुनि का सच्चा लक्षण

जो निर्मल भेदविज्ञानी होकर विरागी बनकर, समस्त परिग्रह को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपने को अनुभवते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादिक स्वभावां को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, परद्रव्य वा उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासते हैं, उन्हें जानते हैं किंतु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते, ×××तीव्र कषाय के अभाव के कारण हिंसारूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा, ऐसी अंतरंग अवस्था होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर संस्कारादि विक्रिया से रहित हुए हैं, वन-खंडादि में निवास है, व्यवहार में २८ मूलगुणों को अखंडित पालन करते हैं, निश्चय में स्वसन्मुखता द्वारा तीन जाति के कषायों के अभावरूप वीतरागता होती है, मुनि को व्यवहार में निमित्तरूप से २८ मूलगुण व्यवहाररत्नत्रय सहित होते हैं, किंतु अकेले व्यवहारमात्र से मुनि की सच्ची परीक्षा नहीं है। निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का सच्चा लक्षण है, ऐसा भगवान ने कहा है। यहाँ तीनों की एकता की बात है, पूर्णता की बात नहीं है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और जघन्य स्वरूपाचरण है, वहाँ विशेष चारित्र नहीं है; पश्चात् विशेष पुरुषार्थी बनकर, विरागी होकर निज शुद्धात्मा के उग्र आलंबन द्वारा आगे बढ़ते हैं तो प्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर छठवाँ गुणस्थान आता है। कोई कहता है कि वस्त्रसहित होने पर सातवाँ गुणस्थान आ सकता है और छठवें में आकर वस्त्र का त्याग होता है, तो ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि भेदज्ञानपूर्वक स्वसन्मुखता का बल बढ़ता है, तब सर्व सावद्य के त्याग की प्रतिज्ञा नौ प्रकार से करता ही है। बाद में अंतर एकाग्र होने पर सातवाँ गुणस्थान आता है—ऐसा नियम है। उसमें कोई अपवाद नहीं है। स्वरूप में अकषाय परिणति होती है, वह निश्चयव्रत है और हेयबुद्धि से हठरहित जो शुभराग आते हैं, वह व्यवहारव्रत है। चतुर्थ गुणस्थान में जघन्य स्वरूपाचरणचारित्र है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, वह तो निमित्तरूप शुभराग है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। निश्चय-सम्यक्त्व के बिना व्यवहार कैसा? मात्र शास्त्रों का ज्ञान हो, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है,

परसत्ता-अवलंबी ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है; २८ मूलगुणों का पालन, वह आत्मा का सम्यक्चारित्र नहीं है, किंतु वह परद्रव्य के आश्रित शुभभाव होने से आस्रव है। आस्रव को आत्मा मानना, विरुद्ध भाव से आत्मा का हित होना मानना, मिथ्यात्वरूपी हिंसा ही है।

अष्टसहस्री में कहा है कि आज्ञा प्रधानी से परीक्षा प्रधानी होना उत्तम है, परीक्षा करके देवादि की आज्ञा माननेवाला सम्यक्त्वी है। जैसे चतुर व्यापारी बाजार में परीक्षापूर्वक ही वस्तु को लेता है, उसीप्रकार यहाँ हित-अहितरूप अपना ही परिणाम है, ऐसा जानकर उसका कारण, उसका फल, निजशक्तिरूप उपादान, संयोगरूप निमित्त, स्वभाव-विभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय और प्रत्येक का स्व से अस्तित्व, पर से नास्तित्व भाव-भासनरूप समझकर परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षा और आत्मानुभवरूप कार्य न करके मंदकषाय द्वारा मुनित्व धारण करके शुक्ललेश्या करके अंतिम ग्रैवेयक तक गया, किंतु इससे आत्महितरूप धर्म लेश भी नहीं हुआ। इसलिये आत्महितरूप धर्म अपूर्व है। अज्ञानवश कठिन है, समझना चाहें तो सुलभ है। आत्मा का अभ्यास करने से आत्मा का भान होता है। मेंढ़क भी आत्मा का भान करके सम्यग्दृष्टि बन सकता है। ज्ञानी को अपनी शक्ति अनुसार तप-त्याग होता है। हठ करे, अहंकार करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि सच्चे लक्षण द्वारा मोक्षमार्ग की पहिचान करे तो वह मिथ्यादृष्टि कैसे रहे ? किंतु जो मुनि अर्थात् मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप न जाने तो उसे सच्ची भक्ति कहाँ से होगी ?—नहीं हो सकती।

सुवर्ण को कसौटी करके ही खरीदा जाता है; उसीप्रकार अपूर्व और हितकारी ऐसे धर्म को कसौटी द्वारा परीक्षा करके ग्रहण न किया जाये तो नहीं चलेगा। कोई अपरिचित सौम्यमुद्राधारी मुनि नग्न दिगम्बर भेष में आ रहे हैं; ऐसे मुनि को आते देखकर प्रथम तुरंत परीक्षा कर लूँ, फिर वंदनादि करूँगा—ऐसी बात नहीं है; किंतु यहाँ जो सत्य-असत्य की परीक्षा नहीं करता, वह अंतरंग मुनित्व की परीक्षा नहीं है।

मात्र बाह्य व्यवहार से, शुभराग की क्रिया से मुनिपना मानकर उनकी सेवा-भक्ति से हमारा भला होगा, ऐसा मानता है, उस मिथ्या मान्यता का ही निषेध है। पर की सेवा करने का भाव पुण्य है, धर्म नहीं है। दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के शुभभाव आते हैं, उनका निषेध नहीं है किंतु उसमें मिथ्या अभिप्राय का निषेध है, जो सम्यग्ज्ञान करने के लिये है। ●●

सैद्धांतिक चर्चा

लेखांक ३ गतांक नंबर २१८ से चालू

[लौकिक व्यवहारीजन के अभिप्राय अपेक्षा सोपक्रम आयु के अंत को अकाल मृत्यु या अक्रमिक कहने में आते हैं, किंतु सर्वज्ञ वीतराग के ज्ञान अपेक्षा तथा ज्ञेय अपेक्षा से वास्तविकता देखें तो सोपक्रम आयु जो व्यवहारनय का विषय है, वह भी क्रम निश्चित क्रमबद्ध ही है, अक्रम नहीं है, इत्यादि विषयों में हमारे माननीय, आदरणीय श्री रामजीभाई दोशी ने निम्नप्रकार शास्त्राधार से विस्तृत वर्णन किये हैं। वह २०० पत्र का लेख है, क्रमशः छपते रहेंगे, जिसमें अपूर्व तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा होगी, वह मध्यस्थता और धैर्य से यह लेखमाला पढ़कर सच्चे समाधान को प्राप्त करेंगे। (संपादक)]

१०९—केवली भगवान विश्व के साक्षीपने के कारण श्रुतज्ञान के अवयवभूत **निश्चय-व्यवहारनय के पक्षों के स्वरूप को जानते हैं, इसलिये वे जानते हैं कि कोई भी पर्याय अक्रमिक नहीं होती, परंतु सर्व पर्यायें क्रमनियमित (क्रमबद्ध) होती हैं।** इसलिये अकाल मृत्यु की पर्याय 'अक्रमिक पर्याय' नहीं है; वे जानते हैं कि सब आयु अपने-अपने स्वकाल में पूर्ण होती है। और जिस जीव को सोपक्रम आयुकर्म के कारण उसकी उदीरणा हुई है, उसके उदीरणारूप कर्म का, (अर्थात् निमित्त का) ज्ञान कराने के लिये उसे 'अकाल मृत्यु' कहते हैं।

११०—अब इसप्रकार (जैसे ऊपर उत्तर देने में आया है, उसप्रकार) न मानने में आवे और 'अक्रमिकपर्याय' हुई—ऐसा मानने का दुराग्रह करे तो नवतत्त्वों में किस-किस तत्त्व की भूल हुई, यह विचारने में आता है।

१११—जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल—श्री प्रवचनसार, गाथा २०० की टीका पृष्ठ २४३ में लिखा है कि, 'एक ज्ञायकभाव का **समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान अनंत भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले, अगाध स्वभाव और गंभीर समस्त द्रव्यमात्र को, मानो वे ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये**

हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है।'

११२—जो जीव ऐसा मानते हैं कि जीव की मृत्यु अपने स्वकाल में नहीं हुई, अन्य काल में हुई; वे **ज्ञायकस्वभाव की जो व्याख्या ऊपर देने में आई है, उसको नहीं मानते हैं, इसलिए वे आत्मा को (जीव को) नहीं मानते हैं, यह जीवतत्त्व की भूल है।**

११३—अजीवतत्त्व की भूल भूल—नये भव का गतिनामकर्म, भूत आयुकर्म की उदीरणा और नये भव की आयुकर्म का उदय **एक साथ अपने निश्चित स्वकाल में होता है। यह जो नहीं मानते, वे पुद्गलद्रव्य की पर्याय यथार्थरूप से नहीं मानते।** आयुकर्म की उदीरणा सोपक्रम आयु होने से वास्तव में अपनी योग्यता से होती है। उसको नोकर्मरूप बाह्य निमित्तकारण से हुई—ऐसा जो कोई माने तो वह **आयुकर्मरूप सूक्ष्म पुद्गलों की और नोकर्मरूप अन्य द्रव्यों की एकता मानते हैं;** इसलिये वे जीव और एक-एक परमाणु द्रव्य स्वतंत्ररूप से परिणमन करते हैं—ऐसा नहीं मानकर, एक द्रव्य की पर्याय, दूसरे द्रव्य की पर्याय में कुछ करती है—ऐसा माननेवाला द्विक्रियावादी हैं, जो अरहंत के मत का नहीं है।

११४—निमित्त, उपादान में कुछ भी करे, लाभ-नुकसान करे, सुधार-बिगाड़ करे—ऐसा माननेवाला भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य का अनुयायी नहीं है, क्योंकि भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री समयसार की गाथा १०८ में स्पष्टरूप से कहते हैं कि निमित्त, उपादान में कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते हैं।

११५—अब विचारिये—कि निमित्त, उपादान में कुछ भी बिगाड़-सुधार करे तो उतने अंश में निमित्त को उपादान क्यों नहीं कहना? अवश्य कहना ही चाहिये, उसको निमित्त नहीं कहना चाहिये।

११६—एक द्रव्य की पर्याय को दूसरे द्रव्य की पर्याय का कर्तापना होने में सर्वथा विरोध है। देखिये—श्री प्रवचनसार, गाथा १६२ की टीका में लिखा है कि 'एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का **कर्ता नहीं होता, कारण नहीं होता और कर्ता का प्रयोजक नहीं होता और कर्ता का अनुमोदक भी कभी नहीं हो सकता। कर्ता आदि होने में सर्वथा विरोध है।**

११७—आस्रव, बंध, पुण्य, पाप की भूलें—जिस जीव को जीव और अजीव का

भेदविज्ञान नहीं होता, उसको जीव और आस्रव (राग-द्वेष-पुण्य-पाप) का भेदविज्ञान नहीं होता तथा वह आस्रव और जीव के स्वरूप को एक मानता है। इसलिये वह अज्ञानी है।

११८—देखिये—समयसार के कर्ताकर्म अधिकार के प्रारंभ में ६९-७० गाथा की टीका।

जिसको आस्रव की भूल होती है, उसे पुण्य-पाप, राग-द्वेष, बंध आदि सर्व प्रकार के 'विभाव' भावों को अपना 'स्वभाव' भाव मानने की भूल होती है। **संवर-निर्जरा तत्त्व की भूल**—जिसको आस्रवतत्त्व की भूल होती है, उसको संवर, निर्जरातत्त्व की भूल भी अवश्य ही होती है, अर्थात् वे पुण्य से धर्म मानते हैं और वे निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूप को नहीं जानते हैं।

पुण्य ही मुक्ति का कारण है—ऐसा माननेवाला भगवान के मत से बाहर है। ऐसा श्री प्रवचनसार की गाथा २५६, अध्याय-३, पृष्ठ-३४९ में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है।

११९—मोक्षतत्त्व की भूल—मोक्ष कहो वा केवलज्ञान कहो; एक ही बात है।

(१) प्रवचनसार की ८०वीं गाथा की टीका में कहा है, 'जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है; **वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से अंतर नहीं है।**'

(२) श्री प्रवचनसार, गाथा ३८ में कहा है—'अरहंत की केवलज्ञानरूपी पर्याय, सब अविद्यमान पर्यायों को एक ही साथ स्पष्ट, प्रत्यक्ष युगपत् जानते हैं, क्योंकि वे सब ज्ञान के प्रति नियत हैं।'

(३) श्री प्रवचनसार, गाथा ३९ में कहा है कि ज्ञान अपने प्रति ज्ञेय को प्रतिनियत न करे (अपने में निश्चित न करे, प्रत्यक्ष न जाने) तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या?'

(४) श्री प्रवचनसार, गाथा ३६ में कहा है कि ज्ञान-ज्ञेय को परस्पर आलंबन-निमित्त है।'

(५) श्री प्रवचनसार, गाथा ५४ में लिखा है कि ज्ञेयाकार ज्ञान का अतिक्रम (उल्लंघन) न करने से, यथोक्त प्रभाव का अनुभव करते हुये (उपर्युक्त पदार्थों को जानते हुए) कौन रोक सकता है?

(६) श्री प्रवचनसार, गाथा ४९ में लिखा है कि ज्ञान का निमित्त सर्व द्रव्य-पर्याय है, तथा आगे इसी गाथा में कहा है कि यदि आत्मा, सबको न जानता हो तो ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध न हो।'

(७) श्री प्रवचनसार, गाथा ४८ में लिखा है कि जो सबको नहीं जानता, वह एक को अपने को (पूर्णरीत्या) नहीं जानता।

(८) श्री प्रवचनसार, गाथा २८ में लिखा है कि आत्मा और पदार्थ एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं।

(९) श्री प्रवचनसार, गाथा ३८ में लिखा है कि अविद्यमान पर्यायें भी अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई वे विद्यमान ही हैं।'

(१०) श्री समयसार, कलश २ के भावार्थ में कहा है कि 'वस्तु में एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं, किंतु अन्य विशेषरूप अनंत धर्म भी हैं, जो कि वचन के विषय नहीं हैं, किंतु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, उसमें भी अपने अनंत धर्म हैं।'

१२०—इससे सिद्ध हुआ कि **पर्याय शुद्ध हो या अशुद्ध, वह सब केवलज्ञान का विषय है।** इसलिये विकारीपर्याय को, अपने स्वकाल को छोड़कर, अन्य काल में होती है—ऐसा माननेवाला केवलज्ञान के स्वरूप को यथार्थरूप से नहीं जानता। जो एक भी पर्याय को अनिश्चित और आगे-पीछे के काल में होनेवाली मानता है, वह केवलज्ञान के स्वरूप को और केवलज्ञानी को नहीं मानता; इसलिये उसकी मोक्षतत्त्व में भी भूल होती है।

१२१—**प्रश्न १ब**—श्री कुन्दकुन्द आचार्य, उमास्वामी आचार्य आदि द्वारा उल्लेखित 'अकालमृत्यु' की वार्ता, सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार है या कल्पित है ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले कुछ तात्त्विक विवेचन की जरूरत है।

१२२—अकालमृत्यु, यह करणानुयोग का विषय है, उसके संबंध में तत्त्वज्ञानी निम्न प्रकार जानते हैं।

जो जीव, तत्त्वज्ञानी होकर, इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उनको यह विशेषणरूप प्रतीत होता है। जो जीवादिक तत्त्व स्वयं जानता है, उन्हीं का विशेष निरूपण करणानुयोग में किया है। उसमें कितने ही विशेषण **तो यथावत् निश्चयरूप हैं, कितने ही उपचार को लिए हुए व्यवहाररूप हैं, कितने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावादिकरूप हैं; कितने ही निमित्त, आश्रयादि अपेक्षा को लेकर हैं,** इत्यादि अनेक प्रकार के विशेषण कहे हैं। **उनको जैसा का तैसा मानता हुआ,** इस करणानुयोग का अभ्यास करता है। इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान निर्मल होता है।

[देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अध्याय, पृष्ठ ३९५-३९६, दिल्ली से प्रकाशित, आवृत्ति तीसरी।]

'अकालमृत्यु' चरणानुयोग की अपेक्षा 'भगवती आराधना' शास्त्र में असत्य वचन के प्रकरण में लेने में आया है। यह उपदेश दो प्रकार से है। एक तो **केवल व्यवहार का उपदेश, दूसरा निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश।** *[मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अध्याय, पृष्ठ ४०७]*

भगवती आराधना में जो इस विषय में कथन किया है, वह अकेला व्यवहारनय का कथन है।

१२३—'अकालमृत्यु' यह कथन व्यवहारनय का है या निश्चयनय का है, प्रथम यह निर्णय करने की आवश्यकता है।

'अकाल' का अर्थ '**सोपक्रम आयुकर्म के रजकणों की उदीरणा**'—ऐसा होता है, अतः उसको जीव का कहना, यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

१२४—श्री समयसारजी, कर्त्ताकर्म अधिकार, गाथा ११६ से १२० तक की (पृष्ठ १११ पर) टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि 'जैसे घड़े का उपादानकारण, मिट्टी का पिंड ही है, जीव नहीं है। **जीव तो केवल निमित्तकारण मात्र ही है, यह सर्व कथन हेय तत्त्व है अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तुस्वरूप नहीं है।** इस कारण पुद्गल से भिन्न शुद्ध परमात्मा की भावना में परिणमन करते हुए भेदरहित रत्नत्रयस्वरूप भेदज्ञान से जाननेयोग्य चिदानन्दमयी एक स्वभाव को रखनेवाला अपना शुद्ध आत्मस्वरूप ही शुद्ध निश्चय से उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य है।'

१२५— आगे ११२ पृष्ठ में लिखते हैं कि, 'यह सर्व कथन व्यवहारनय से है, अतः जो **शुद्धात्मिक रस का अनुभव करना चाहे, उनके लिये हेय है-त्यागने योग्य है।** उन्हें तो अभेद रत्नत्रयस्वरूप आत्मज्ञान की ही शरण लेकर, स्वभाव-गुप्त रहनायोग्य है। इसप्रकार तीन गाथाओं का (१) शब्दार्थ कहा गया, इससे तो व्याख्यान में शब्दार्थ हुआ—ऐसा जानना। इसी में व्यवहार और निश्चयनय से अर्थ समझाया, सो (२) नयार्थ जानना। इसी में सांख्यमत के प्रति यथार्थ मत को कहा, सो (३) मतार्थ जानना। तथा आगम में तो यह अर्थ प्रसिद्ध स्वयं है ही, इससे (४) आगमार्थ हुआ। इस कथन में **हेय और उपादेय का व्याख्यान** किया, सो (५) **भावार्थ** जानना।

इस तरह (१) शब्द, (२) नय, (३) मत, (४) आगम और (५) भाव—इन पाँच अर्थों से कथन किया। **व्याख्यान काल में सब जगह यथासंभव इसी तरह पाँच अर्थों से कथन जानने योग्य है।**

श्री पंचास्तिकाय, गाथा १, पृष्ठ ६ की टीका में भी इसीप्रकार पाँच रीति से अर्थ करने को लिखा है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २, पृष्ठ १० में लिखा है कि 'इस तरह शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ यथासंभव व्याख्यान के समय में सब जगह जानना चाहिए।'

परमात्मप्रकाश, गाथा १ की टीका में भी लिखा है कि 'इसीप्रकार अर्थ करना चाहिए।'

श्री जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग तीसरा, पृष्ठ २१ में प्रश्न नंबर ८५ में जैनशास्त्रों के अर्थ करने की रीति बतलाते हुए लिखा है कि (१) शब्दार्थ, (२) नयार्थ, (३) मतार्थ, (४) आगमार्थ, (५) भावार्थ से अर्थ करना चाहिये, तथा पृष्ठ २२ में प्रश्न ८६ में परमात्मप्रकाश का दूसरा श्लोक देकर पाँच प्रकार से अर्थ करके दिखलाया है।

१२६—इसप्रकार 'अकालमृत्यु' का व्यवहारनय से अर्थ करने में कर्मरूप उदीरणा की स्थितिरूप निमित्तकारणमात्र का ज्ञान कराया है। इसलिये अकालमृत्यु का अर्थ इसप्रकार हुआ कि अकालमृत्यु वास्तव में अपने स्वकाल में हुई है, किंतु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'अकाल'—ऐसा उपचार कथन है।

१२७—मृत्यु के विषय में श्री समयसारजी (पृष्ठ ३६९) गाथा २४८ व २४९ की टीका में लिखा है कि 'प्रथम तो जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है। क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है; **और दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है। इसलिये किसी भी प्रकार से कोई दूसरा, किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता।** इसलिए 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'—ऐसा अध्यवसाय **ध्रुवरूप से (नियम से) अज्ञान है।'**

१२८—इस टीका से सिद्ध होता है कि कोई दूसरा, किसी भी प्रकार से दूसरे का मरण नहीं कर सकता है। मरण, आयुकर्म के क्षय से ही होता है। आयुकर्म का क्षय, उदय और उदीरणा से दो प्रकार का होता है। **उदीरणा से हुआ, यह भी आयुकर्म का क्षय है, वास्तव में किसी की भी भुज्यमान आयु घटती या बढ़ती नहीं है, किंतु निरुपक्रम आयु का सोपक्रम आयु से भेद बतलाने के लिए सोपक्रम आयुवाले जीव की 'अकालमृत्यु' हुई—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।**

१२९—व्यवहारनय के कथन को अज्ञानी निश्चयनय का कथन मानते हैं; श्री समयसारजी,

गाथा ३२४ से ३२७ तक की टीका में ऐसे अज्ञानीजन को 'व्यवहार-विमूढ़' कहा है। और ज्ञानीजन को 'निश्चय-प्रतिबुद्ध' (निश्चय के ज्ञाता) कहा है।

१३०—श्री समयसारजी ४१४ गाथा के भावार्थ में कहा है कि 'जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते, जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।' **इसलिए अकालमृत्यु को निश्चय कथन मानना बड़ी भ्रमणा है।** इतने विवेचन से इस प्रश्न का उत्तर हल हो जाता है, और वह निम्न प्रकार है।

१३१—भावपाहुड़, गाथा २५-२६-२७ अपमृत्यु अर्थात् कुमरण का महादुःखपना बताने के लिए भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि यह सब अज्ञानी को होता है, ज्ञानी को समाधिमरण होता है। इसके लिए भावपाहुड़ की ३२ वीं गाथा आती है। जहाँ कुमरण और सुमरण दोनों की व्याख्या की है।

१३२—सोपक्रम आयु और निरुपक्रम आयु का विषय, इन गाथाओं से बिलकुल पृथक् है। वह आयुकर्म की उदय, उदीरणा के विषय का ज्ञान कराने के लिए है, जिसको समाधिमरण होता है, उसको निरुपक्रम आयु ही होती है, ऐसा नहीं है। किसी-किसी जीव को निरुपक्रम आयु भी होती है। सोपक्रम भी होती है। भावपाहुड़, गाथा २५-२६-२७ में कुमरण का विषय और अनेक प्रकार के निमित्त की बात लिखी है; इस कारण से वह सोपक्रम आयु का विषय नहीं हो जाता है।

१३३—कितने ही जीव मानते हैं कि अकालमृत्यु है, वह कुमरण है, यह बात झूठी है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को भी जिसको नियम से समाधिमरण होता है, उसको भी अकालमृत्यु होती है। भावपाहुड़, गाथा २५ में संक्लेश परिणाम से आयु का क्षय होना कहा है। संक्लेश परिणाम तो अपना भाव है, वह कोई बाहर का नोकर्मरूप निमित्त है ही नहीं। यह गाथा अकालमृत्यु की है, ऐसा मानना मिथ्या है। यह तो अपमृत्यु अर्थात् कुमरण की है। अकालमृत्यु तो सम्यग्दृष्टि को भी होती है। देखिये:—राजा श्रेणिक सम्यग्दृष्टि था, उसका मरण, अकालमृत्यु था, तो भी वह बालपण्डित मरण होने से सुमरण है।

यह पाहुड़ भावपाहुड़ नामक अधिकार है, इसलिए जीव का कुमरणभाव अज्ञानतासूचक है, यह दर्शाता है और गाथा ३२ में लिखा है कि, 'हे जीव या संसार विषै अनेक जन्मान्तर विषै अन्य कुमरण-मरण जैसे होय, तैसे तू मूवा। अब तू जा मरण तैं जन्म मरण का नाश होय ऐसा सुमरण भाय ॥३२॥

१३४—देखिये, गाथा २८ में निगोदिया जीव के मरण की बात की है, उसके मरण को भी अपमृत्यु कहा है। निगोदिया जीव को कभी भी सोपक्रम आयु होती ही नहीं; उसको तो एक अंतर्मुहूर्त में ६६३३६ मरण नियम से होते ही हैं। गाथा २९ में क्षुद्र भव की बात की है, वहाँ भी अकालमृत्यु की बात नहीं है। फिर **गाथा ३० में ऐसा उपदेश दिया है कि यह सब कुमरण दीर्घ संसार में रत्नत्रय की अप्राप्ति से हुआ है। इसलिए तुम जिनवरकथित रत्नत्रय का आचरण करो—ऐसा कहा है।** गाथा ३१ में आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताया है और गाथा ३२ में कुमरण और सुमरण का स्वरूप बतलाया है और सब प्रकार के मरण का भेद, पण्डित जयचंद्रजी ने गाथा ३३ की टीका में बतलाकर कहा है कि 'इनिमैं पंडित-पंडितमरण अर पंडित मरण अर बाल पंडितमरण—यह तीन प्रशस्त सुमरण कहै हैं, अन्य रीति होय सो कुमरण है।'

विवेकीजन का कर्तव्य है कि शास्त्र का अर्थ, उसका यथार्थ आशय के अनुसार ही करना चाहिये। उसमें भूल हो जाने से अपनी आत्मा का अकल्याण हो जाता है।

१३५—करणानुयोग के शास्त्र से भी दो बातें सिद्ध होती हैं। (१) जिस भव्य जीव का मोक्ष होनेवाला है, उसके मोक्ष के समय को भगवान बराबर जानते हैं।

(२) भगवान का केवलज्ञान-केवलदर्शन स्वयं उत्पन्न हुआ है। स्वयं का अर्थ 'अपने आपसे' इसलिये भगवान को 'स्वयंभू' कहा है।'' *(देखिये, प्रवचनसार, गाथा १६ की टीका)*

१३६—इसमें लिखा है कि मोक्ष होने के लिए आत्मा को निमित्तरूप कारक का संबध है ही नहीं तथा इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि जो भिन्न कारक की (निमित्त की) अपेक्षा नहीं रखते हैं, उन्हीं को 'स्वयंभू' कहा है। ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से केवलज्ञान-केवलदर्शन हुआ, यह परमार्थ कथन है ही नहीं, क्योंकि परमार्थ तो स्वयं उत्पन्न होता है। कर्म का अभाव निमित्तमात्र होने से निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय से कहने में आता है कि ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से केवलज्ञान-केवलदर्शन हुआ, ऐसे कथन का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि 'ऐसा है ही नहीं, किंतु कर्म के अभावरूप निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है।'

१३७—श्री पंचास्तिकाय, गाथा १५० तथा १५१ तथा तत्त्वार्थसार गाथा ३१ आदि का अर्थ ऊपर के सिद्धांत के अनुसार, अर्थात् 'यह व्यवहारनय का कथन होने से निमित्त का ज्ञान कराने के लिए उपचार से अन्यथा निरूपण करता है, इसलिये अभूतार्थ है।'

(दिल्ली से प्रकाशित, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६६)

१३८—**प्रश्न**—(१) क:—तथा अकलंकदेव लिखित राजवार्तिक का '**कालानियमात् निर्जराया:**' (अध्याय १, सूत्र ३) वार्तिक (यानी) जीवों की कर्म-निर्जरा तथा कर्म-मुक्ति का कोई निश्चित समय नहीं है, वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार है या कल्पित है ?

उत्तर—इस वार्तिक का क्या अर्थ है ?—यह समझने के लिए इसके आगे-पीछे के संबंध का विचार करना ही चाहिए, उसका विचार नीचे देने में आयेगा।

(२) भगवान श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दूसरा, सूत्र ५३ में आयुकर्म का विवेचन किया है, 'अकालमृत्यु' शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

(३) 'आदि नाम से' किस आचार्य का कथन कहना प्रश्नकार चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं है।

(४) दोनों आचार्यों ने 'अकालमृत्यु' शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। तो वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार है या कल्पित है ? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

(५) विशेष यह समझना है कि किसी भी वीतरागी आचार्य का कथन कल्पित है—ऐसा माननेवाला सच्चा जैन कभी नहीं हो सकता। समस्त सच्चे आचार्यों का कथन, सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार ही है। सर्वज्ञ की वाणी में दो प्रकार के नयों का कथन आता है, जहाँ निश्चयनय का कथन है, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये और जहाँ व्यवहारनय का कथन है, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये, अर्थात् निमित्त, भेद-उपचार आदि का ज्ञान करने के लिये जानने के लिये कथंचित् भूतार्थ है किंतु उसका आश्रय छोड़कर अभेद ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करनेयोग्य है; इसलिये उसे अभूतार्थदर्शित समझकर उसका आश्रय छोड़ना चाहिये।

१३९—व्यवहारनय का कथन वस्तुस्वरूप नहीं है, किंतु निमित्तादिक का ज्ञान कराने के लिये उपचार से कथन किया है - ऐसा जानना। **इसके विरुद्ध अर्थ करना कल्पित अर्थ है।** व्यवहार के कथन को निश्चय का कथन माननेवालों को श्री अमृतचंद्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में उसको मिथ्यादृष्टि कहा है और उसके लिये (मुनिश्वरों की) **देशना नहीं होती,** क्योंकि अज्ञानी व्यवहार को ही निश्चय मान लेते हैं।

सर्वज्ञता, केवलज्ञान, मोक्षतत्त्व की पहचान सभी सम्यग्दृष्टि को समान है; ज्ञान और ज्ञेय की प्रत्येक अवस्था सुनिश्चित है

१४०—षट्खंडागम—धवला टीका पुस्तक, पृष्ठ १३ में भगवान श्री वीरसेनाचार्य ने कहा

है कि '**स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से** युक्त भगवान, देवलोक और असुरलोक साथ मनुष्यलोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, मुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि कर्म, अरहः कर्म, सब लोकों, **सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं** और विहार करते हैं।'

१४१—श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं कि 'जीवद्रव्य अनंतानंत हैं; पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनंतगुणा है, उनके अणु और स्कंध ये भेद हैं, धर्म, अधर्म और आकाश—ये मिलकर तीन हैं और काल असंख्यात है, इन सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होनेवाली अनंतानंत पर्यायें हैं। **इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है, जो केवलज्ञान के विषय के बाहर हो। वह नियम से अपरिमित माहात्म्यवाला है।**'

१४०—अब देखिये—कर्म की निर्जरा और कर्ममुक्ति, यह पुद्गलद्रव्य के पर्यायों का समूह है, जीव का सादि-अनंत मोक्ष, यह जीवद्रव्य की पर्यायों का समूह है। सो यह केवलज्ञान के विषय के बाहर नहीं है, किंतु कोई ऐसा माने कि उसकी शुरुआत का समय केवलज्ञान के बाहर है तो केवलज्ञान का अपरिमित माहात्म्य ही नहीं रहता है और जो ऐसा माने कि केवलज्ञान का विषय है **तो मोक्ष का पहला समय निश्चित हुआ; अनिश्चित नहीं रहा।**

१४३—श्री समंतभद्रस्वामी स्वयंभूस्तोत्र में मुनिसुव्रत भगवान की स्तुति करते हुए काव्य ११४ में कहते हैं कि—

जनन व्यय ध्रौव्य लक्षणं जगत प्रतिक्षणं,
चित अचित आदि से पूर्ण यह हरक्षणं।
यह कथन आपका चिह्न सर्वज्ञ का।
है वचन आपका आप्त उत्कृष्ट का॥११४॥ *(भाषानुवाद)*

यहाँ भी ऐसा कहने में आया है कि जगत् के प्रत्येक क्षण का (अनादि-अनंत काल तक प्रत्येक क्षण का) चेतन, अचेतन, शुद्ध-अशुद्ध हरेक पर्याय का उत्पाद और व्यय भगवान के ज्ञान में आता है, यह सर्वज्ञ का चिह्न है। यहाँ मोक्ष के उत्पाद का प्रथम समय निश्चित हो गया और निश्चित न मानो तो सर्वज्ञपना का लोप हो जाता है, सर्वज्ञ का लोप होने से आत्मा का लोप हो जाता है, क्योंकि हरेक जीव में सर्वज्ञशक्ति नाम का एक गुण है।

१४४—केवलज्ञान में जीवों की कर्म-निर्जरा और कर्म-मुक्ति का समय बराबर जानने में

आता है; इसलिये उसका समय निश्चित नहीं है—ऐसा मानना, वह केवलज्ञान के स्वरूप का अनादर है और भगवान अकलंकदेव, केवलज्ञान के स्वरूप का अनादर करे—ऐसा नहीं बन सकता।

१४५—अब देखिये—भगवान ऋषभदेव ने मारीच के जीव को जिसका तमाम चौथा काल बाकी था, सैंकड़ों भव करने थे, बताया था कि यह जीव चौथे काल के अंत में २४ वाँ तीर्थंकर होगा।

१४६—अनादि काल से प्रवाहरूप से चले आते हुए सब तीर्थंकरों ने भूतकाल के चौबीस तीर्थंकरों का तथा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का तथा भविष्य के चौबीस तीर्थंकरों का नाम, मोक्ष का समय आदि, क्या नहीं जाना था ? तो शास्त्रों में यह सब आया कहाँ से ? और कहा किसने ?

१४७—भगवान नेमिनाथ ने, वासुदेव श्रीकृष्ण का मरण कब होगा, बताया था, यह भी शास्त्र में कहा है। जैसा उन्होंने कहा, वैसा ही मरण हुआ और वह मरण 'अकालमृत्यु' था। उसको अकालमृत्यु न मानना बड़ी भूल है—आगम विरुद्ध है। अकालमृत्यु का निश्चित समय जो नेमिनाथ भगवान के ज्ञान में नहीं था तो कहा कैसे ? भगवान ने द्वारिका का भविष्य बताते हुए कहा था कि बारह वर्ष के बाद द्वीपायन मुनि के निमित्त से द्वारिका में आग लगेगी और उसमें केवल तुम दो भाई ही बचेंगे, बाकी सब नष्ट हो जायेंगे। क्या यह संख्याबंध जीवों का अकालमृत्यु का निश्चित समय और निश्चित निमित्त, भगवान के केवलज्ञान में नहीं देखा गया था ? जो एक अकालमृत्यु का निश्चित समय हो तो अनादि-अनंत काल तक जितने अकालमृत्यु होंगे, उन सबका समय निश्चित हो गया। **वास्तव में किसी भी पर्याय का समय निश्चित न हो तो उसका ऊर्ध्वप्रचय किसप्रकार बनेगा ? और वह भगवान के ज्ञान के विषय से बाहर हो जायेगा।** ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है और कोई पर्यायों का समूह भी नहीं है, जो केवलज्ञान के बाहर हो। वे पर्यायें चाहे विकारी हो, चाहे अविकारी हो, परिपूर्ण ज्ञान भविष्य की पर्याय को वर्तमान में न जाने तो उसको ज्ञान कहेगा कौन ? वह स्वयं ज्ञान ही नहीं रहेगा।

१४८—श्री प्रवचनसार, गाथा ३७ की टीका में लिखा है कि 'हरेक द्रव्य के पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी है और वह सब पर्यायों का विशिष्ट लक्षण एक ही समय में ज्ञान के जानने में आता है।' वहाँ पृष्ठ ४४ पर लिखा है कि '(जीवादिक) समस्त द्रव्य जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से (अर्थात् वे तीनों काल में उत्पन्न हुआ करती हैं, इसलिये) उनकी (उन समस्त द्रव्य जातियों की) **क्रमपूर्वक तपती**

हुई स्वरूप-संपदावाली (एक के बाद दूसरी प्रगट होनेवाली) विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायों की भाँति अत्यंत मिश्रित होने पर भी, सब पर्यायों के विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हो—इसप्रकार, एक क्षण में ही ज्ञानमंदिर में स्थिति को प्राप्त होती है। यह (तीनों काल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भाँति ज्ञान में ज्ञात होना) अयुक्त नहीं है; क्योंकि—

१४९—[१] **उसका दृष्ट के साथ** (जगत में जो दिखाई देता है-अनुभव में आता है, उसके साथ) **अविरोध है।** (जगत में) दिखाई देता है कि छद्मस्थ के भी, जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है, इसीप्रकार **भूत और भविष्यत वस्तु का चिंतवन करते हुए** (भी) ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है।

[२] और **ज्ञान चित्रपट के समान है,** जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत व वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार (आलेखन योग्य, चित्रित करनेयोग्य) साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; **इस प्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में (ज्ञानभूमिका में, ज्ञानपट में) भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।**

[३] और, **सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता** (वर्तमान, साम्प्रतिकता) **अविरुद्ध है, जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही है, इसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही है।**

१५०—किसी भी पर्याय का निश्चित समय नहीं है—ऐसे कथनमात्र से और प्रतिज्ञामात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिये हेतु, और आगम का आधार दोनों बताना चाहिये। आगम में किसी भी स्थल पर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध—ऐसी दो प्रकार की पर्यायें होती हैं—ऐसा नहीं कहा है और यह न्याय से भी सिद्ध नहीं है।

१५१—ऐसा तो वे कबूल करते हैं कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल की सर्व पर्यायें **क्रमबद्ध है, तो ऐसा माननेवाले से हम प्रश्न पूछते हैं कि धर्मादि चारों द्रव्यों में तुम्हारे माने हुए** 'क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध (अनिश्चित, आगे-पीछे, उल्टे-सीधे) रूप अनेकांत' कहाँ चला गया ?

१५२—अब देखिये—इन चारों द्रव्यों की पर्यायें क्रमबद्ध मानने से सब द्रव्यों की पर्यायें क्रमबद्ध सिद्ध हो जाती हैं, वह इसप्रकार है।

१५३—धर्मास्तिकाय अनादि काल से अनंत काल तक किस-किस शुद्ध-अशुद्ध जीवों और पुद्गलों के गमन में निमित्त होगा, यह पर्याय निश्चित् हो गई।

१५४—इसीप्रकार अधर्मास्तिकाय, जिनको वह निमित्त होता है—ऐसे शुद्ध और अशुद्ध जीव व पुद्गल कब स्थिर होंगे ? यह भी निश्चित हो गया और इससे विकारी और अविकारी जीवों और पुद्गलों की गमन करने की और स्थिर होने की पर्यायें क्रमबद्ध सिद्ध हो गई **और मोक्षगामी के गमन के समय में ऊर्ध्वगमन की पर्याय और लोक के अंत में उसकी स्थिरता का तथा सब पर्यायों का निश्चित् समय सिद्ध हो गया।** इसप्रकार आकाश, शुद्ध-अशुद्ध सब द्रव्यों को, किस-किस जगह, किस-किस समय में अवगाहन में निमित्त होगा, यह भी आकाशद्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध मानने से क्रमबद्ध सिद्ध हो गया।

कालद्रव्यः—स्वयं परिणमते हुए शुद्ध और अशुद्ध सब द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है; इसलिये अशुद्ध प्रत्येक जीव और पुद्गलद्रव्यों की पर्यायों के परिणमन का काल भी क्रमबद्ध सिद्ध हो गया।

ऐसा कहते है कि भूतकाल की पर्यायें क्रमबद्ध है; सिद्ध जीव की पर्यायें सिद्ध हुए उससमय से अनंत काल तक क्रमबद्ध है, तो उससे यह भी सिद्ध हो गया कि शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की पर्यायें क्रमबद्ध हैं; क्योंकि भूतकाल की पर्यायें हैं, वह भूतकाल होने के पहिले वर्तमान थी और वर्तमान होने के पहिले भविष्य की थी, इससे वर्तमान पर्याय तथा भविष्य की पर्यायें भी क्रमबद्ध सिद्ध हो गई, मोक्ष की पहले समय की पर्याय भी क्रमबद्ध और निश्चित हो गई—ऐसा (न्याय से) सिद्ध हुआ।

१५५—जिन जीवों को परद्रव्य की कर्ताबुद्धि और राग की कर्ताबुद्धि नहीं छोड़नी है, उसको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थरूप मानने में सम्यक् पुरुषार्थ होने पर भी, उसका दर्शन नहीं होता; इसलिये उसमें अशुद्ध जीव की अशुद्ध पर्यायें और पुद्गल की अशुद्ध पर्यायें केवलज्ञान का विषय नहीं हो सकती—ऐसी कल्पना उत्पन्न हुई; इसलिये उन्होंने अशुद्ध जीव और अशुद्ध पुद्गल की पर्याय के **लिये कल्पित अनेकांत की रचना की।**

१५६—भविष्य की पर्याय ज्ञेय है या अज्ञेय है ? अज्ञेय तो जगत का कोई पदार्थ नहीं हो सकता। भविष्य की अशुद्ध पर्याय ज्ञेय है—ऐसा मानने में आवे तो क्रमबद्ध की सिद्धि हो जाती है। कोई भी पर्याय ज्ञेय होवे और उसका समय अनिश्चित होवे - ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने से वह ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकता।

१५७—यदि मोक्ष का समय अनिश्चित है—ऐसा माना जावे तो ६ महिना और ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जायेंगे और इतने ही समय में इतने ही जीव नित्य निगोद से निकलेंगे और व्यवहारराशि की संख्या, मोक्ष होने पर भी इतनी की इतनी ही रहेगी – यह कैसे बन सकता है ? यह सर्वज्ञ और क्रमबद्ध मानने पर ही सिद्ध होता है। इस विषय में श्री समयसार राजमलजी कृत कलश टीका पृष्ठ १० में लिखा है कि '**तिहि मांहे अभव्य राशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जावांकौ अधिकारी नांही। भव्य जीव मांहे केता एक जीव मोक्ष जावा योग्य है। तिहिकौं मोक्ष पहुँचि याकौ काल परिमाण है। व्यौरौ—यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै इसौ न्यौधु (नोंध) केवलज्ञान माहे छै॥**' देखिये पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का समय अनिश्चित नहीं है—निश्चित ही है—ऐसा अनेकांत स्पष्टतया सिद्ध हुआ।

राजा श्रेणिक का जीव, नरक में गया, वहाँ पर ८४ हजार वर्ष की आयु है और वहाँ से निकलकर यहाँ प्रथम तीर्थंकर होंगे। यह **सब जीव की अशुद्धपर्यायें हैं** और इससमय उसके साथ संयोगरूप आठ कर्मों की अवस्था है, वह भी **पुद्गलद्रव्य की अशुद्धपर्यायें हैं।** वे सब अनिश्चित है—ऐसा माननेवाला जैनधर्म से बाहर है। अवधिज्ञान का विषय पुद्गल तथा स्कंध दोनों हैं, अवधिज्ञानी सुनिश्चिततया उसका भूत, भविष्यत्, वर्तमान जानते हैं। पर्यायों को यथार्थरूप से जाने तो वह अशुद्धपर्यायों का भी निश्चित समय बताते हैं कि अनिश्चित, इसका थोड़ा विचार कीजिये।

१५८—तीर्थंकर भगवान, माता के गर्भ में कब आयेंगे ?—इसका निर्णय अवधिज्ञानी बराबर कर लेते हैं, माता का शरीर तथा उसका गर्भस्थान, पुद्गल की अशुद्धपर्यायें हैं। भगवान का आना, वह भी अशुद्धजीव की एवं कार्मण-तैजसशरीर की पर्यायें हैं। उनका समय निश्चित न हो तो माता के गर्भ में अमुक समय में आयेगा—यह किस ज्ञान से निश्चित हुआ ? पहिले, दूसरे, तीसरे नरक से आनेवाला जीव, यदि तीर्थंकर के रूप में माता के पेट में (गर्भ में) आनेवाला हो तो उसको छह महीना पहले नरक में उसे कोई मारेगा ही नहीं और यहाँ रत्नों की वृष्टि छह मास तक होगी ही होगी। यह बात अनेक जीवों और पुद्गलों की अशुद्धपर्यायों का निश्चित समय नहीं बताते, तो क्या बताते हैं ?

१५९—धवला टीका पुस्तक १३, सूत्र ८१-८२ द्वारा कहा है कि 'आगति, गति, चयन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत

प्रतिसेवित आदि सभी को केवली भगवान जानता है। यह सब कर्म सब जीव और पुद्गल को अशुद्धपर्यायें नहीं हैं, तो क्या ? यह सब अनिश्चित है—ऐसा मानना, यह भगवान को न मानने के समान है। सब जीवों व भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानना—यह सब शुद्ध और अशुद्ध पर्यायों का समावेश नहीं करते तो किसका करते ? और भगवान विहार करते हैं, वह शुद्धपर्याय है या अशुद्धपर्याय है—उसको भगवान जानते हैं या नहीं ?

इन सबको भगवान जानते हैं—ऐसा धवल पुस्तक नंबर १३ में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं—ऐसा मानना या नहीं मानना ? विचारवान को मानना ही पड़ेगा।'

१६०—इस प्रश्न का विचार करते समय तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ ६४, अध्याय १, सूत्र ३ का ७-८-९ इन तीन वार्तिकों को एक साथ पढ़कर इसका निर्णय करना चाहिये, उस वार्तिक में इसप्रकार है—

१६१—'इहाँ और कोई कहै हैं:—

वार्तिक - **भवयस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेरधिगमसम्यक्त्वा भावः ॥७॥**

अर्थः—**प्रश्न**—भव्य के काल करि मोक्ष की उपपत्ति है, यातैं अधिगम सम्यक्त्व को अभाव है। **टीकार्थ**—भव्य के काललब्धिकरि मोक्ष की उत्पत्ति है, यातैं अधिगम सम्यक्त्व को अभाव है, क्योंकि जो केवली का ज्ञान में धारण किया मोक्ष का कालतैं पूर्व अधिगम सम्यक्त्व का बलतैं मोक्ष होय तो अधिगम सम्यग्दर्शनकै सफलता है, सो यो सफलपणौं है नाहीं, यातैं जो काल करि ही याकौं मोक्ष है, तो यो मोक्ष निसर्गज सम्यक्त्वतैं ही सिद्ध है ॥७॥

उत्तररूप वार्तिक—**विवक्षितापरिज्ञानात् ॥८॥**

अर्थः—उत्तरः—सो नहीं है क्योंकि वक्ता का अभिप्राय को तिहारै अपरिज्ञान है यातै। **टीकार्थ—उत्तरः**—यो प्रश्न युक्त नाहीं है। **प्रश्नः**—काहे तै ? **उत्तरः**—सूत्रकार के कहने का अपरिज्ञानतै; क्योंकि सम्यग्दर्शनादित्रय जे है, तिन तैं मोक्ष कह्यौ है, तहाँ जो प्रथम है सो काहेतैं उत्पन्न होय है, ऐसा प्रश्नतै होता संता निसर्गतैं तथा अधिगमतैं उत्पन्न होय है यो अर्थ इहां कहियो है। अर जो ज्ञान-चारितरहित केवल निसर्गज तथा अधिगमज सम्यग्दर्शनतैं ही मोक्ष इष्ट होय तो भव्य के कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति है, यो कहनो युक्त होय सो यो अर्थ इहां नहिं विवक्षित है कि कहने की इच्छा का विषयरूप नाहीं है अथवा जैसे कुरुक्षेत्र में कहूँ-कहूँ कनक, बाह्य पुरुषार्थरूप प्रयत्न का अभावतैं ही उत्पन्न होय है, तैसें बाह्य पुरुष का उपदेशपूर्वक जीवादिकनका जानन बिना

जो उत्पन्न होय, सो निसर्गज है अर जैसे कनक पाषाण विधिपूर्वक उपायनैं जाननेवाला पुरुष का प्रयोग की है अपेक्षा जाकै, ऐसी कनक भावनें प्राप्त होय है, तैसे जो सम्यग्दर्शन **विधिपूर्वक उपायकुं जाननेवाला मनुष्य का मिलापतैं** जीवादिक पदार्थनिका तत्त्वनैं जानने की है अपेक्षा जाके, ऐसो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होय, सो अधिगमज सम्यग्दर्शन है, यो अर्थ विवक्षित है, अर इनि दोऊ भेदनि में एक भेद को अभाव नहि है, यातैं विवक्षित का अपरिज्ञानतैं अधिगम को अभाव है – ऐसैं कहियो हो तो सो सम्यक् नहीं है ॥८॥

१६२—वार्तिक — **कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥९॥**

अर्थः— अथवा निर्जरा के काल को नियम नहीं है।

टीकार्थ—जीवनि के समस्त कर्म की निर्जरापूर्वक मोक्ष जो है, ताके काल को नियम नहीं है, यातैं क्योंकि कितनेक भव्य तो संख्यात कालकरि सिद्ध होंहिंगे अर कितनेक भव्य असंख्यात कालकरि सिद्ध होंहिंगे अर कितनेक भव्य अनंत कालकरि सिद्ध होंहिंगे **अर और अनंतानंत कालकरि भी सिद्ध नहीं होंहिंगे, तातैं भव्य के कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति है – ऐसैं कहियो हुतो, सो युक्त नहीं है ॥९॥**

अब, उसका विवेचन ७ वाँ वार्तिक में प्रश्नकार अपने प्रश्न में तथा उसकी टीका में कहते हैं कि 'भव्य के कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति है, यातैं अधिगम सम्यग्दर्शन का अभाव है।' अब, इस प्रश्न में कितनी भूल है, यह वार्तिक ८ तथा ९ में बताया है।

—: प्रथम भूल :—

१६३—**'सब भव्य जीवों के कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति है', यह सिद्धांत झूठ है क्योंकि इस सिद्धांत को मानने से सर्व भव्य जीवों को मोक्ष होगा ही होगा, किंतु यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि अनंतानंत काल तक अनेक भव्य जीवों की मुक्ति नहीं होगी,** अर्थात् सब भव्यों को 'काल करि मोक्ष की उत्पत्ति है'—ऐसा जो सिद्धांत प्रश्नकार ने प्रतिपादन किया है, वह झूठा है। श्री समयसार कलश टीका, राजमलजी कृत पृष्ठ १० में लिखा है कि 'जिस जीव के मोक्ष होनेवाला है, उसकी नोंध केवलज्ञान में है।'

१६४—इससे यह सिद्ध हुआ कि **सब भव्य जीव, मोक्ष जाते हैं, यह बात सच्ची नहीं है;** 'इसलिये केवली के ज्ञान में सब भव्य जीवों के काल करि मोक्ष की उत्पत्ति हो'—ऐसा जानने में क्यों आवे? कभी भी जानने में नहीं आवे, क्योंकि केवली भगवान जैसा हो, वैसा ही जानते हैं।

१६५—अब प्रश्न का उत्तर ८ वें वार्तिक में इसप्रकार दिया है कि—सूत्रकार के कहने का परिज्ञान न होने से यह प्रश्न शंकाकार ने किया है क्योंकि सूत्रकार ने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भव्यों को मोक्ष होना कहा है, काललब्धि से सब भव्य जीवों का मोक्ष होगा—ऐसा नहीं कहा है।

१६६—आठवें वार्तिक में सम्यग्दर्शन किसप्रकार से उत्पन्न हो? यह बतलाया है; 'इसलिये भव्यों को कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति होगी ही'—ऐसा कहना युक्त नहीं है, और इतना ही नहीं, परन्तु 'सब भव्यों को कालकरि मोक्ष की उत्पत्ति होगी'—ऐसा सूत्रकार के कहने का आशय है ही नहीं। यहाँ पर कहने का हेतु यह है कि किसी जीव को वर्तमान में गुरु के उपदेश बिना पूर्व के संस्कारवश सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और जिसको ऐसा संस्कार नहीं है, उसको **विधिपूर्वक सम्यग्ज्ञानी जीव के उपदेश से,** जीवादिक पदार्थों के तत्त्वों का ज्ञान होता है। इसप्रकार की अपेक्षा से जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। निसर्गज और अधिगमज में से एक का भी अभाव नहीं है।

१६७—वार्तिक ९ में आचार्यदेव सिद्ध करते हैं कि 'सब भव्य जीवों को मोक्ष हों—ऐसा नहीं है।' यह सिद्ध करने के लिये कहा है कि '**अनंतानंत काल करि कितने ही भव्य जीव सिद्ध नहीं होंगे**' और ऐसा भी कहा है कि 'जिन जीवों का मोक्ष होगा, उन सबको एक ही प्रकार की कर्म निर्जरा का (मोक्ष का) नियम नहीं है; कितने ही भव्य संख्यात काल करि सिद्ध होंगे, कितने ही भव्य असंख्यात काल करि सिद्ध होंगे, कितने ही भव्य अनंत काल करि सिद्ध होवेंगे; इसलिये मोक्ष जाननेवाले जो भव्य जीव हैं, उनको सबको एक ही काल में मोक्ष होगा—ऐसा नियम नहीं है।'

वार्तिक में 'अनियमात्' शब्द कहा है, यह सब भव्य जीवों को लक्ष्य में लेकर कहा है किंतु भव्यों में से जो जीव मोक्ष पानेवाला है, उसके लिये नहीं है क्योंकि भव्यों में से जो-जो जीव मुक्ति पावेगा, उसका समय निश्चित है, अनिश्चित नहीं है; इसलिये उसके लिए 'अनियमात्' शब्द है ही नहीं।

(कब्र में गढ़े मरे हुए एक दिन जीवित हो जायेंगे और भगवान उस समय उन सबका न्याय करेगा और जो जीव मोक्ष के लायक होगा, उसको मोक्ष देगा; और जो स्वर्ग के लायक होगा, उसे स्वर्ग देगा और जो नरकादिक के लायक होगा, उसको उसीप्रकार का फल देगा—ऐसी मान्यता झूठी है, यहाँ ऐसा बताया है।)

१६८—कितने भव्य जीव संख्यात काल करि सिद्ध होयेंगे, उसका काल निश्चित नहीं है,

अर्थात् वे किस समय मोक्ष जावेंगे—यह भगवान के केवलज्ञान में नहीं आया है—ऐसा कहने का अभिप्राय आचार्यदेव का नहीं है। कितने ही भव्य असंख्यात काल के बाद सिद्ध होंगे—यह कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जिस-जिस भव्य जीव को असंख्यात काल के बाद सिद्धि होगी, उसका मोक्ष का समय निश्चित नहीं है और भगवान उस समय को नहीं जानते हैं।

'कितने ही भव्य अनंत काल करि सिद्ध होयेंगे'—ऐसा कहा है। उसका अर्थ यह नहीं कि जो-जो भव्य जीव अनंत काल के बाद सिद्ध होंगे, उनका समय निश्चित नहीं है और भगवान सर्वज्ञ उसको नहीं जानते।

१६९—पीछे आचार्यदेव कहते हैं कि कितने ही भव्य ऐसे हैं जो अनंतानंत काल में कभी भी सिद्ध नहीं होंगे। इसका अर्थ यह है कि अनंतानंत काल का सुनिश्चित ज्ञान, भगवान सर्वज्ञ को है और जो-जो भव्य जीव मोक्ष जानेवाले हैं, उन सबका समय भगवान के ज्ञान में आया ही है और उसके ज्ञान में बाकी के जीवों का कभी भी मोक्ष नहीं होगा—ऐसा भी आया है। इस पर से यह सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सब जीवों की अनादि-अनंत पर्यायें आयी हैं और **भगवान के ज्ञान के वश सब जीवों का और सभी द्रव्यों का परिणमन ज्ञात होता है,** ऐसा आचार्य विद्यानंदजी ने 'श्री पात्रकेसरी स्तोत्र' में छठवें श्लोक में कहा है।

१७०—इन सबका सार यह है कि सब भव्यों का काल करि मोक्ष होगा ही होगा—ऐसा शंकाकार ने कहा है, वह योग्य नहीं है; इसलिये ऐसा कहना कि जीवों की कर्म-निर्जरा तथा कर्म-मुक्ति का कोई निश्चित समय नहीं है, अर्थात् सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीवों की कर्म-निर्जरा तथा कर्म-मुक्ति का, हर एक के लिये अपना-अपना समय निश्चित नहीं है; सो ऐसा मानना झूठ है।

१७१—सब जीवों की कर्म-निर्जरा और कर्म-मुक्ति होगी—ऐसी बात सत्य नहीं है क्योंकि अभव्यों की और कितने ही भव्य जीवों की भी सिद्धि नहीं होगी, तब जीवों की कर्म-निर्जरा और कर्म-मुक्ति का निश्चित समय किसप्रकार से हो सकता है ? कभी भी नहीं हो सकता। किंतु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि जो भव्य जीव मोक्ष जायेगा, उसके कर्म की निर्जरा, कर्म की मुक्ति का समय निश्चित नहीं है। ऐसा मानना, यह वस्तुस्वरूप से, केवलज्ञान के स्वरूप से, आगम से और न्याय से विरुद्ध है। *(क्रमशः)*

व्यवहारनय अभूतार्थ किसलिए ?

यह लेख जो अंक नम्बर २ (२१७) जून में प्रथम पेज पर छपा है, उस लेख के पंज नम्बर ६६ के बाद का आखिरी अंश जो भूल से छपना रह गया था, वह इसप्रकार पढ़ें।

समयसार शास्त्र की ११ वीं गाथा समस्त जिनशासन का प्राण है। उसमें तथा टीका में कहा है कि 'समस्त व्यवहारनय-अभूतअर्थ प्रद्योतयन्ति' किंतु जो भेद में ही समझता है, उसे अभेदवस्तु समझाने के लिये व्यवहारनय आये बिना रहता नहीं, प्रयोजन त्रैकालिक पूर्ण वस्तु का आश्रय कराने का है, वर्तमान अंशमात्र का आश्रय में, गुण-गुणी भेद का आश्रय में राग की उत्पत्ति होती है। इसलिये उसका आदर-आश्रय प्रारम्भ से ही श्रद्धा में से छुड़ाने के लिये व्यवहार को अभूतार्थ कहा है।

व्यवहार के आश्रय से लाभ मानने की श्रद्धा तो अनादि से कर रहा है, इसलिये प्रथम श्रद्धा में परमार्थ अभेद वस्तु का आश्रय द्वारा व्यवहार की रुचि-आश्रय-प्रेम छुड़ाया है। जो जीव राग से भेदज्ञान करके निर्मल अभेद स्वभाव में दृष्टि-ज्ञान और आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति नहीं करता, वह निश्चयाभासी है, उसकी यहाँ बात नहीं है।

आत्मा सदाय अपने त्रैकालिक गुणों के साथ तन्मय होने पर भी उसकी सेवा नहीं करता, उसमें वो अर्थ आया कि—द्रव्यस्वभाव ऐसा नित्य शुद्ध अभेद सवभावसहित होने पर प्रगट दशा में उसका सेवन नहीं करता अर्थात् परमार्थ सत्य से विरुद्ध पुण्य-पापरूपी विकार आस्रवों की सेवा की है, अन्दर बेहद निर्मल प्रभुता है, उसकी सम्हार न की किंतु पर्याय में पामरता-तुच्छता के ऊपर दृष्टि-रुचि रखकर व्यवहार के आश्रय में रागादि की रक्षा की। इसप्रकार अनादि काल से स्वयं अकृत्रिम कारणपरमात्मा सहज ज्ञानमय होने पर एक क्षण भी उसकी सेवा-सम्हार की नहीं।

अहो ! ज्ञायक चैतन्यस्वभाव, स्वभाव से पूर्ण है, स्वभाव को सीमा क्या ? त्रैकालिक भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने से आत्महित का लाभ है। पर्याय तो क्रमवर्ती है, क्षणिक अंश है, भेद है, व्यवहार है; द्रव्य वह निश्चय है, भूतार्थ है, अंशी है। आत्महित में अज्ञानी जीव उसमें से संयोग, भेद, क्षणिक अंश का आश्रय से लाभ मानता है। इसलिये अंतरंग में मैं शाश्वत उत्तम, मंगल और शरणरूप अखंड ज्ञानानंद हूँ, ऐसी दृष्टि अन्दर में देता नहीं है। राग की रुचि छुड़ाने के लिये पूर्ण स्वभावी स्वतत्त्व का आश्रय करना चाहिये और उसी का ही आश्रय करने की आवश्यकता है, इसलिये उसे मुख्य करके निश्चय कहा, और उसका आश्रय कराने के लिये व्यवहार को अभूतार्थ कहा है। व्यवहार है; सर्वथा अभूतार्थ नहीं है किंतु अखंड भूतार्थ का आश्रय कराने के लिये अभूतार्थ कहा है और ऐसा ही है। ●●

धर्म

धर्म का स्वरूप बताते हुए श्रीमद् समंतभद्र ने रत्नकरंडश्रावकाचार की गाथा २ में कहा है:—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

अर्थ—मैं (समंतभद्र) इस ग्रंथ में उस धर्म का उपदेश देता हूँ जो प्राणियों को पंचपरावर्तनरूप संसार के दुःखों से निकालकर मोक्ष के निराबाध उत्तम सुख दे। उस धर्म में वादी-प्रतिवादी द्वारा तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि द्वारा बाधा नहीं आती है और वह कर्मबंधन को नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—सभी जीव संसार में 'धर्म' 'धर्म' कहते हैं किंतु वे उसका वास्तविक स्वरूप नहीं जानते। वास्तविक 'धर्म' वह है जो आत्मा को नरक, तिर्यंचादि गतियों के परिभ्रमणरूप दुःखों से हटाकर उत्तम आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय, मोक्षसुख में दे। यह धर्म बाजार में बिक्री नहीं होता जो कोई धन देकर या दान, सन्मानादि से इसे ले ले। यह किसी का दिया हुआ नहीं मिलता और न किसी को सेवा द्वारा खुश कर लिया जा सकता है। वह न मंदिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति तीर्थ आदि में रखा हुआ है। जहाँ से कि कोई भी जाकर ले ले अथवा वह उपवास, व्रत, काय, क्लेशादि तप द्वारा शरीरादि को कृष करने से भी नहीं मिलता।

देवाधिदेव, तीर्थंकर भगवान के मंदिर में उपकरण, दान, मंडल, विधान, पूजा आदि करने से या घ छोड़ बन, श्मशान में रहने तथा परमेश्वर का नाम जपने से भी आत्मा का धर्म नहीं मिलता। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। पर में आत्मबुद्धि* छोड़ अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की श्रद्धा, उसका ज्ञान और ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तनरूप आचरण धर्म है। उत्तम क्षमादि दश लक्षणरूप अपनी

* दूसरे से भला-बुरा होना मानना, दूसरे का कुछ कर सकना मानना, शुभरागरूप व्यवहार के आश्रय से धर्म होता है, रागादि क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुरुषवेदरूप नोकषाय करनेयोग्य हैं, ऐसा मानना तथा परद्रव्य, परक्षेत्रादि के कारण से मुझे राग, सुख-दुःख आदि होते हैं, ऐसी मान्यता में पर में आत्मबुद्धि रहती ही है। इस महान भूल को अच्छी तरह देखकर मैं उससे रहित त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव युक्त हूँ, सर्वज्ञस्वभावी हूँ, पर-रागादि-का कर्ता, भोक्ता, स्वामी नहीं हूँ, ऐसा निर्णय कर पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय और स्वानुभव द्वारा पराश्रय की श्रद्धा छोड़ना 'पर में आत्मबुद्धि' छोड़ना है।

आत्मा का परिणमन, रत्नत्रयरूप वीतरागभाव, मिथ्यात्व रागादि की उत्पत्ति रहित जीवों की दयारूप आत्मा की परिणति हो, तब यह आत्मा स्वयं ही धर्मरूप होगी। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल आदि तो निमित्तमात्र हैं। जिस समय यह आत्मा मिथ्यात्व, रागादिरूप परिणति छोड़, वीतरागरूप होकर देखता है, तब (निश्चय धर्म के सद्भाव से ही असद्भूत उपचारवाले व्यवहारनय द्वारा) उसका मंदिर, प्रतिमा-पूजन, तीर्थ-वंदन, दान, तप, जप सभी धर्मरूप हैं। यदि अपनी आत्मा उत्तम क्षमादि वीतरागरूप सम्यग्ज्ञानरूप नहीं परिणमता है तो कुछ भी धर्म नहीं होता। यदि शुभराग हो तो पुण्यबंध हो और अशुभराग हो, द्वेष, मोह हो तो पापबंध हो। जहाँ शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, स्वरूपाचरणवाला धर्म है, वहाँ बंध का अभाव है, बंध का अभाव होने से ही उत्तम सुख होता है।

(पराश्रय रहित अतीन्द्रिय, आत्मा से ही उत्पन्न निराकुलरूप सुख ही धर्म है। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है।)

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ...

जो आत्महित के अभिलाषी हैं, उन्हें भेदविज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञानमय निज परमतत्त्व का निश्चय-आश्रय-आदर-रुचि-उत्साह, भावना, मनन, चिंतन करना चाहिये; निज भूतार्थस्वरूप ही निश्चल मन से पढ़ने योग्य, ध्यान करनेयोग्य, आराधना के योग्य, पूछने के योग्य, सुनने योग्य, अभ्यास योग्य, उपार्जन करनेयोग्य, जाननेयोग्य, कहनेयोग्य, प्रार्थना के योग्य, शिक्षा के योग्य, देखनेयोग्य, स्पर्शनेयोग्य, अनुभवन में स्वसंवेदन द्वारा लाने योग्य है। ऐसा श्री अमितगति आचार्य ने योगसार नामक ग्रंथ में कहा है।

चक्रवर्ती वज्रनाभि

[आदि पुराण से]

[अंक से आगे]

[श्री ऋषभदेव भगवान भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं; उन्हीं की यह कथा है। उन्होंने वज्रनाभि चक्रवर्ती के भव में निर्ग्रंथ मुनिपद धारण करके आयु के अंतिम काल में उपशांतमोह नामक ११वाँ गुणस्थान लिया और मनुष्य पर्याय का त्याग करके सर्वार्थसिद्धि विमान नामक स्वर्ग में (-देवलोक में) उत्पन्न हुये। वहाँ भेदविज्ञान के बल द्वारा निर्मल तत्त्वज्ञान और वैराग्य भावनाओं का चिंतन करते थे। आचार्यदेव ने कहा है कि संसार में लोग जिसे सुख मानते हैं, वह सुख नहीं है क्योंकि उनके चित्त इच्छा-तृष्णारूपी रोग द्वारा विविध आकुलताओं से खेदखिन्न हो रहे हैं।]

जिसप्रकार मन में मोह उत्पन्न करने से, तृष्णा बढ़ाने से सुख नहीं है; शरीर में शिथिलता लानेवाला दाह ज्वर कभी सुखरूप नहीं होता; उसीप्रकार चित्त में मोह, शरीर में शिथिलता विषयों में रति-लालसा और संताप के कारण होने से स्त्री संयोग भी सुखरूप या सुख के लिये साधनरूप नहीं हो सकता। जिसप्रकार कोई रोगी पुरुष कड़वी औषधि का भी सेवन करता है, उसीप्रकार काम-ज्वर से दु:खी हुआ जीव भी उसे दूर करने की इच्छावश स्त्रीरूपी औषधि का सेवन करता है। जब मनोहर विषयों का सेवन केवल तृष्णा के लिये ही है—संतोष के लिये नहीं है, तब तृष्णारूपी ज्वाला द्वारा तप्त हुआ यह जीव सुखी कैसे हो सकता है ? जैसे जो औषधि, रोग दूर न कर सके, वह औषधि ही नहीं है; जो जल तृषा को दूर न कर सके, वह जल नहीं है और जो धन, संकट नहीं हरता, वह धन नहीं है। उसीप्रकार जो विषयों से उत्पन्न सुख, तृष्णा का नाश नहीं कर सकता, वह सुख ही नहीं है। स्त्री आदि के संयोग में रति मानने से उत्पन्न सुख केवल कामेच्छारूपी रोग को दूर करने का साधन है।

जिसप्रकार रोगरहित स्वस्थ मनुष्य औषधि का सेवन न करने पर भी सुखी रहता है। उसीप्रकार कामेच्छारहित संतोषी अहमिन्द्रदेव स्त्री संभोग न करने पर भी सुखी रहते हैं। विषयों में अनुराग करनेवाले जीवों को जो सुख प्राप्त होते हैं, उसे सच्चा सुख कैसे कहा जाये ? क्योंकि विषयसेवन के पूर्व तथा सेवन करने के समय और अंत में वह केवल संताप ही देता है। विद्वान

पुरुष तो ऐसा सुख चाहते हैं कि जिसमें मन की विषयों से निवृत्ति हो जाती है, चित्त संतुष्ट हो जाता है; किंतु ऐसा सुख उन विषयांधों को कैसे प्राप्त हो सकता है कि जिनका चित्त सदा विषय प्राप्त करने में ही खेदखिन्न बना रहता है।

विषयों का अनुभव करने से जीवों को जो सुख होता है, वह पराधीन, बाधासहित, व्यवधानसहित और कर्मबंधन का कारण है; इसलिये वह सुख नहीं किंतु दुःख ही है। वह विषय विष के समान अत्यंत भयंकर है कि जो सेवन करते समय ही अच्छा लगता है, वास्तव में वह विषयों से उत्पन्न सुख खाज खुजाने से वह उत्पन्न आकुलता के सुख समान है अर्थात् जिसप्रकार खाज खुजाते समय सुख का आभास होता है, किंतु फिर दाह उत्पन्न होने से विशेष दुःख होता है। उसीप्रकार उन विषयों का सेवन करने से उस समय तो सुख की कल्पना होती है, किंतु बाद में तृष्णा की वृद्धि होने से दुःख होता है। प्रज्वलित अग्नि में ईंधन डालने से वह बढ़ती ही रहती है, विषय सेवन के समय तीव्र मूर्छावश संतोष मानता है किंतु उसे सुख कैसे कहा जा सकता है ?

जब तक फोड़े के अन्दर मवाद भरा हो, तब तक चंदन आदि का लेप करने से स्थायी आराम नहीं होता, उसीप्रकार जब तक मन में विषयों की चाह-इच्छा है, तब तक विषय-सेवन करने से संताप और तृष्णा तो बनी रहती है, इसलिये उसमें सुख कैसे माना जाये ? सुख और आराम तो तब प्राप्त होता है कि जब फोड़े के अंदर से मवाद और मन के अंदर से विषयों की इच्छा नष्ट कर दी जाये। जिसप्रकार विकारयुक्त घाव को क्षारयुक्त शस्त्रों से काटने का उपाय किया जाता है। उसीप्रकार विषयों की इच्छारूपी रोग उत्पन्न होने से उसे दूर करने के लिये विषय सेवन किया जाता है, और इसप्रकार जीवों का वह विषय सेवन मात्र रोग वृद्धि का उपाय-क्लेश-ही सिद्ध होता है।

जिसप्रकार नीम का कीड़ा उसके कड़वे रस को ही आनन्ददाता मानकर उसमें तल्लीन रहता हुआ आनन्द मानता है, अथवा विष्टा का कीड़ा दुर्गंधयुक्त मलिन रस को उत्तम समझकर विष्टा में रहकर आनन्द मानता है, उसीप्रकार यह संसारी जीव संभोग आदि जनित दुःख को सुख मानता हुआ उसमें तल्लीन रहता है। विषयों का सेवन करने से प्राणियों को मात्र मूर्च्छा और आसक्ति ही उत्पन्न होती है। यदि उस रागरसरूप आसक्ति को ही सुख माना जाये तो विष्टा आदि अपवित्र वस्तु खाने में भी सुख मानना चाहिये, क्योंकि विषयीजन जिसप्रकार प्रेम को प्राप्त करके प्रसन्नता की कल्पना द्वारा मनोज्ञ विषयों का उपभोग करता है, उसीप्रकार कुत्तों और सूकरों के समूह भी प्रसन्नता के साथ विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं का सेवन करते हैं अथवा जिसप्रकार विष्टा

के कीड़े को विष्टा के रस का पान करने में ही उत्कृष्ट सुख का अनुभव होता है, उसीप्रकार विषय सेवन करने की इच्छावाले प्राणियों को भी निन्दनीय विषयों का सेवन करने में उत्कृष्ट सुख भासित होता है।

जो पुरुष, स्त्री आदि विषयों का सेवन करता है, उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र वेग से चलता है और सारा शरीर पसीने से भीग जाता है। यदि संसार में ऐसे जीव को भी सुखी माना जाये तो दु:खी कौन होगा? जिसप्रकार अपने दाँतों से हड्डी को चबानेवाला श्वान अपने को सुखी मानता है; उसीप्रकार जिसका आत्मा विषयों से मोहित हो रहा है, ऐसा मूर्ख जीव भी विषय सेवन करने से उत्पन्न मात्र श्रम को ही सुख मानता है; इससे सिद्ध होता है कि कर्मों के क्षय तथा उपशम से जो स्वाभाविक आनन्द उत्पन्न होता है, वही सुख है। वह सुख अन्य वस्तुओं के आश्रय से कभी उत्पन्न नहीं होता।

अब, कदाचित् यों कहा जाये कि स्वर्ग में रहनेवाले देवों को परिवार और ऋद्धि आदि सामग्री से सुख होता है, किंतु अहमिन्द्रों के वे सामग्रियाँ नहीं हैं तो उसके अभाव में उन्हें सुख कहाँ से प्राप्त हो सकता है? तो इस प्रश्न के समाधान में यहाँ दो पक्ष कहते हैं:—

(१) जिसके पास परिवार आदि सामग्री विद्यमान है, उसे उस सामग्री की सत्तामात्र से सुख होता है? अथवा उसका उपभोग करने से होता है? यदि सामग्री की सत्तामात्र से आपको सुख मानना उचित मालूम होता है तो ऐसे राजा आदि को भी सुख होना चाहिये जिसे बुखार चढ़ा हो और रनिवास की रानियाँ, धन, ऋद्धि तथा प्रतापवान परिवार आदि सामग्री उसके निकट ही विद्यमान हो? कदाचित् कोई ऐसा कहे कि उस सामग्री के उपभोग से सुख होता है, तो उसका उत्तर पहले दे दिया है कि परिवार आदि सामग्री का उपभोग करनेवाला, उसकी सेवा करनेवाला पुरुष अत्यंत श्रम और क्लेश को प्राप्त होता है, इसलिये ऐसा पुरुष सुखी कैसे हो सकता है? संयोग और रागादि में रुचिवाला जीव दु:ख को ही सुख और दु:ख के उपाय को ही सुख का उपाय मानता है, किंतु उससे विलक्षण निर्मल भेदविज्ञान द्वारा अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव में दृष्टि करे, उसमें ही एकत्व का अनुभव करे तो सुख और सुख का उपाय अपने में ही है, ऐसा स्पष्ट नि:संदेह निर्णय होता है। (क्रमश:)

अपूर्व आत्मजागृति सहित सल्लेखना

सत्=सम्यक् प्रकार से, लेखना=मिथ्या मान्यता के त्यागपूर्वक कषाय को कृश (क्षीण) और आत्मा को बलवान करना, उसे सल्लेखना कहते हैं।

ज्ञानी जीव, शरीर में स्वाभाविकदशा से विकृत दशा, वृद्धत्व, अंधत्व, असाध्यरोग तथा शुभाशुभ निमित्तज्ञान की शक्ति से अपने (शरीर के) मृत्युकाल का जब निश्चय कर लेता है, तभी वह धर्मी जीव संन्यास-समाधिमरण की विधि अंगीकार करता है और इस सम्यक् समाधिदशा में विशेष प्रकार से राग-द्वेष-मोहादि का स्वावलंबन के बल से अभाव किया जाता है, इसलिये आत्मघात का दोष नहीं लग सकता।

जिसप्रकार कोई बड़ा व्यापारी घर में आग लगने से, प्रथम तो उसे बुझाने का प्रयत्न करता है, लेकिन जब उसका बुझना असंभव जान लेता है, तब मूल्यवान मुख्य वस्तु लेकर उस घर का त्याग करता है। उसीप्रकार शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाये, औषधि से भी रोग न मिट सके अथवा किसी उपसर्ग या वृद्धत्वादि के कारण संयम का निर्वाह होना असंभव हो जाये, तब जिसप्रकार अपना आत्मिक धर्म न बिगड़े उसप्रकार स्वरूप के लक्ष्य से ज्ञान वैराग्य शक्तिरूप धर्म की रक्षा के लिये संन्यास (समाधिमरण की विधि) धारण करता है—वह कहीं आत्मघात नहीं है।

मुनि सम्यक्रत्नत्रय की आराधना में ही तत्पर रहते हैं। अपने को समाधिमरण का निश्चय होने के बाद एकांत जंगल में, पहाड़-गुफा आदि एकांत स्थान में भी जाते हैं, दृढ़ता ऐसी है कि कदाचित् शिथिलता आये तो अतिचार जितना ही दोष लगता है किंतु समाधिमरण से च्युत नहीं होते, शरीर और पाँच इन्द्रियाँ तथा मन शिथिल हो जाये, तथापि अंतर में निज जागृत चैतन्यस्वभाव की निरालम्बी शरण बनी रहती है।

भगवती आराधना में कथन है कि साधक मुनि—समाधिमरण के लिए प्रार्थना करके आज्ञा लेने के लिए ४७ आचार्यों के पास जाये—उसका अर्थ यह है कि अडिग आराधना के निर्वाह के लिए तैयार हुआ है। उसमें ४७ आचार्य—संतों को पूछने के लिए जाने की दृढ़ता, निरभिमानता और योग्यता कितनी है, उसका माप है, वहाँ विशेष अनुभवी आचार्य से पूछता है कि आपकी क्या सम्मति है..... आज्ञा दीजिये। इसप्रकार ४७ आचार्यों के पास जाने की भावना से चला है; यदि बीच में आयु पूर्ण हो जाये तो भी समाधि का आराधक ही है। आचार्य के पास जाये तो उसके

अडिग निश्चय की दृढ़ता देखकर उसे उत्साहित करते हैं, धन्यवाद देते हैं। जाओ, हमारी आज्ञा है। व्यवहार में कोई बाधा नहीं आयेगी, निश्चय तो तुम्हारा है ही।

इस तरह सम्यक् प्रकार से कषाय को क्षीण करने के व्यापार में प्रवर्तन करनेवाले को समाधिमरण की विधि आत्मघात नहीं किंतु अंतिम आराधना है।

शुभ-सूचना

दसलक्षण धर्म पर्व पर प्रवचनकार की आवश्यकता हो तो संस्था द्वारा पत्र लिखें:—

पत्र व्यवहार का पता:—

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महामंडल

ठि० दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति से विराजमान हैं, प्रवचन में सबेरे प्रवचनसारजी शास्त्र गाथा ८७, दोपहर समयसारजी गाथा ९७ चलती है, रात्रि को प्रश्नोत्तर-धर्मचर्चा।

दसलक्षणी पर्यूषण पर्व

तारीख २४-८-६३ भाद्रपद सुदी ५ से तारीख २-९-६३ भा० सुदी १४ तक मनाया जायेगा.... बदी १ को क्षमावानी पर्व। इन दिनों में प्रवचन, पूजन, भक्ति आदि का विशिष्ट कार्यक्रम रहेगा।

जैन शिक्षण वर्ग में उत्तम, मध्यम, प्रथम ऐसी तीन कक्षा है। पढ़ाई में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, जैनतत्त्वमीमांसा में से निमित्त उपादान, द्रव्यसंग्रह, जैन सिद्धांत प्रवेशिका, छहढाला चलते हैं।

आत्मधर्म अंक २१८ में सैद्धांतिक चर्चा लेख में निम्न अशुद्धियाँ छापने में रह गई हैं, पाठकगण अवश्य सुधार कर पढ़ें।

पेज	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	११	एक=आवे	एक आवे
१०९	११	परिणाम न	परिणमन
११४	१५	एव	एवं
१२३	९	पर्याय	पर्याय में
१२३	२१	मिलने	न मिलने
१२७	२१-२२	सकता। कहा जा सकता	सकता कि (यहाँ नीचे की लाईन जोड़ देनी)
१२८	१०	काल में	स्वकाल में
१३०	१	उदीरणा	उदीरणा में
१३५	१४	(यह पेरा वहाँ से....)	×

निश्चयनय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहारनय के आश्रय से बंध

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

अन्वयार्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है, और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषीश्वरों ने बताया है; जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि है। [अध्यात्म पद्धति में नय और नय के विषय को अभेद कहने में आता है।]

जिनशासन के प्राण समान यह ११वीं गाथा में कहा है कि एक परमार्थ-भूतार्थ-त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अभूतार्थ-व्यवहारनय जाननेयोग्य है किंतु उसके आश्रय से सम्यक्त्व नहीं होता यह नियम है। समयसार गाथा २७२ में कहा है कि—

व्यवहारनय इस रीत जान निषिद्ध निश्चयनय हि से
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करे॥

अन्वयार्थ—इसप्रकार (पराश्रित) व्यवहारनय, निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जान; निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यह गाथा भी जिनशासन के प्राण समान है। यह बंध अधिकार की गाथा है, वहाँ कहा है कि स्वाश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय है। बंध पराश्रय से ही होता है, स्वाश्रय से नहीं; मोक्ष और मोक्षमार्ग स्वाश्रय से ही होता है, पराश्रय-व्यवहार (निमित्त) से नहीं—ऐसा अव्यभिचारी नियम बताया है।

विशेष बात यह भी है कि शुद्धनय अर्थात् भूतार्थ का आश्रय करनेवाले जीव को ही जीव कहा है; भेद-पराश्रय-पर के आलंबन से आत्महितरूप लाभ माननेवालों को जीव नहीं कहा किंतु अनात्मा, मूढ़-अचेतन-अजीव कहा है।

समयसारजी शास्त्र

परमागम श्री समयसारजी शास्त्र जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध अज्ञानियों के लिये भी समझाने वाला शास्त्र है। जिसमें चारों अनुयोगों की बात आ जाती है। यह ग्रंथ पहले दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बंबई द्वारा १५०० छपवाया गया था जो कि एक मास में ही सारा बिक गया एवं फिर भी अत्यधिक माँग होने से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ की ओर से तृतीयावृत्ति छपने का काम शुरु हो गया है। सो शीघ्र ही पूर्ण होकर धर्म जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत किया जावेगा। —प्रकाशक

★

अफ्रीका में निवास करनेवाले मुमुक्षुओं का

धार्मिक उत्साह

नैरोबी में श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की स्थापना बहुत साल से हुई है, और वहाँ आत्मधर्म, तथा सोनगढ़ से प्रकाशित आध्यात्मिक साहित्य का वाँचन नियमित चलते हैं, और पूज्य स्वामीजी के टेप रेकोर्ड किये हुये प्रवचन भी वहाँ सुनाने में आते हैं (तथा चारों अनुयोग के शास्त्र भी पढ़ने में आते हैं)। नैरोबी उपरांत मोम्बासा, मोशी आदि स्थानों में भी धर्म जिज्ञासु मुमुक्षु निवास करते हैं। सभी को विशेष धार्मिक लाभ मिले, निर्मल तत्त्वज्ञान का अभ्यास और प्रचार बढ़े, ऐसी भावनावश नैरोबी दिगम्बर मुमुक्षु मंडल द्वारा आमंत्रण आने से राजकोट निवासी विद्वान मुमुक्षु भाई श्री देवशीभाई को वहाँ भेजा गया है, साथ में श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाजी भी विधि सहित भेजने में आई है। वहाँ श्रीजी सहित देवशीभाई तारीख १५-७-६३ मोंबासा बंदर पहुँचे, सामने लेने-सन्मान करने के लिये बहुत भाई गये थे, बाद वहाँ से नैरोबी पहुँचे। यह दोनों शहर में भी जिनेन्द्र भगवान का भव्य स्वागत अत्यंत उत्साहपूर्वक करने में आया था, और अब हमेशा, भगवान की पूजा-भक्ति आदि होंगे। उपरांत श्री देवशीभाई द्वारा प्रवचनों-जैन दर्शन शिक्षण वर्ग चलेगा। इस कार्य के लिये अफ्रीका के मुमुक्षुओं को धन्यवाद।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	भक्ति पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
द्वितीय भाग	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
तृतीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
बृ० पूजा भाषा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।